कामक्रोध वियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

किञ्च कामक्रोधवियुक्तानां पूर्वोक्त प्रकारेण कामक्रोधरहितानां यतीनां परमहंसानां भगवदर्थं सर्वपरित्यागेन स्थितानां वृन्दावनीयवृक्षादिवत् यतचेतसां भगवत्स्वरूपानुभवं कारयचित्तानां विदितात्मनां भगवत्स्वरूपज्ञानिनां अभितः सर्वतः सर्वदिक्षु वा ब्रह्मनिर्वाणं लीलात्मकत्वं वर्तते अनुवर्तत इत्यर्थः । यथा वृन्दावने वृक्षेषु तन्मूलेषु परितश्च क्रीडति तथेति भावः ॥२६॥

काम क्रोध से रहित परमहंस भगवान् के लिये सबका परित्याग करके वृन्दावन में स्थित वृक्ष आदि की भांति यतचित्तों अर्थात् भगवान् के स्वरूप अनुभव में ही चित्त लगाने वाले तथा भगवान् के स्वरूप के ज्ञान करने वालों के चारों ओर लीलात्मकता विद्यमान रहती है । जैसे वृन्दावन में वृक्षों के मूल में चारों ओर लीला को करता है उसी प्रकार उक्त ज्ञानियों के चारों ओर लीला-अनुभव विद्यमान है ॥२६॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

ननु स्पर्शभावरूपा स्थितिरतिकठिना अतः स्पर्शसंयोगेऽपि या प्राप्तिः स्यात् स्पर्शजबन्धाभावे न तथा भवेदित्यभिप्रायेणाह । स्पर्शानिति । द्वयेन । बहिर्बाह्यान् स्पर्शान् कृत्वा बाह्याल्लौकिकान् स्पर्शानिन्द्रियादिविषयभोगान् बहिः तेषूत्तमाद्यभावेन प्रारब्धकर्मभोगवत् । किञ्च पुनः भ्रुवोः कालयमरूपयोरन्तरैव चक्षुः=दृष्टिं कृत्वा कालयममध्ये मरणरूपोऽस्मीति दृष्ट्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानावूर्ध्वाधोगतिरूपौ । संयोग विप्रयोगसुखानुभवाविव समौ कृत्वा मोक्षपरायणः विषयादित्यागपरो विगतेच्छाभयक्रोधो भूत्वा यतेन्द्रियमनोबुद्धिः सन् यः सदा मुनिः मननशीलो भवति स स्पर्शादिविमुक्त एव स्यादित्यर्थः ॥२७, २८॥

स्पर्शभावरूप स्थिति अत्यन्त कठिन होती है । अतः स्पर्श के संयोग होने पर भी जो प्राप्ति होगी वह स्पर्श से उत्पन्न् बन्ध के अभाव में वैसी न होगी । इस अभिप्राय से कहे हैं—'स्पर्शान् कृत्वा' आदि दो श्लोक । बाह्य=लौकिक इन्द्रियों के विषय भोगों की उत्तमादि के अभाव में प्रारब्ध कर्म भोग की भांति, काल और यम के मध्य मरण रूप हूं, ऐसे भ्रुवों की चक्षु करके, नासाभ्यन्तरचारी मुनि प्राण-अपान ऊँची नीची गति रूप संयोग-विप्रयोग सुख अनुभव के समान विषयों का परित्याग कर इच्छा भय क्रोध का त्यागकर इन्द्रिय-मन-बुद्धि का संयम करके मननशील मुनि स्पर्श आदि से मुक्त हो जाता है ॥२७, २८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

ननु कथमेतावन्मात्रेण स्पर्शादिमोक्षः स्यादित्याशंक्याह । भोक्तारमिति । यज्ञतपसां पुण्योपार्जिततापानां भोक्तारं तापोद्भूतरसभोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं स्वक्रीडार्थं जगत्कर्तारं सर्वभूतानां सुहृदं भक्तिमुक्तिस्वरूप रसादिदानेन । एतादृशं मां ज्ञात्वा लौकिकाच्छान्तिं ऋच्छति प्राप्नोति ॥२९॥

संन्यासरूपकथनान्मन्दैर्वै कल्पितं भ्रमम् ।
नाशयामास कौन्तेय प्रश्नव्याजान्नतोऽस्मि तम् ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगोनाम पंचमोऽध्यायः ॥५॥

इति श्री भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरंगिण्यां पंचमोऽध्यायः ॥५॥

इतने मात्र से स्वर्ग आदि द्वारा मोक्ष कैसे संभव है, इस दृष्टि से 'भोक्तारम्' श्लोक कहा है । यज्ञ और तपस्या के पुण्य से उपार्जित लोकों का भोगने वाला, अर्थात् ताप से उत्पन्न रस को भोगने वाले, अपनी क्रीडा के लिये जगत् बनाने वाले, सम्पूर्ण जीवों को भक्ति मुक्ति स्वरूप रसदान करने में बन्धु के समान मुझ भगवान को जानकर लौकिक पद्धति से शान्ति को प्राप्त हो जाता है ॥२९॥

संन्यास रूप कथन से जिन भगवान ने प्रश्न के व्याज से अर्जुन के मन के वैकल्पिक भ्रम का नाश किया, मैं उन्हें नमस्कार करता हूं ।

॥ श्री भगवद्गीता के पांचवें अध्याय की भावरी हिन्दी टीका समाप्त ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

छठवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥१॥

कृत्वाऽपि सर्वसंन्यासं जडवच्चरणादिह ।
न भक्तिं प्राप्नुयात्तस्माद् ध्यानयोगमुवाच ह ॥

पूर्वाध्याये संन्यासमुक्त्वाऽध्यायान्ते इच्छादिविहीनो विषयमोक्षेच्छुविषयभोक्तृत्वादिभ्यो विमुक्तो भवेदित्युक्तम् । ततस्तद्विमुक्तिरेव न फलं किंतु तद्विमुक्त्या भगवद्ध्यानेन भगवदावेशः फलमितिध्यानस्वरूपमाह भगवान् । अनाश्रित इति । कर्मफलं स्वर्गादिरूपमनाश्रितः कार्यं कर्म भगवद्भक्तत्वादवश्यकर्त्तव्यं कर्म सेवादिरूपं यः करोति स संन्यासी त्यागवान् यः पुनर्योगी च भवतीति शेषः । न निरग्निः न गार्हपत्यादित्यागवान् संन्यासी । न च अक्रियः न सेवादिरहितो योगी भवतीत्यर्थः ॥१॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले कि जो भक्त कर्मफल की कामना न करता हुआ करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है, केवल अग्नि तथा क्रियाओं को त्यागने वाला संन्यासी योगी नहीं है। सब प्रकार के संन्यास करके भी इस संसार में जड़ की तरह आचरण करने से भक्ति को नहीं प्राप्त किया जा सकता, इसीलिये ध्यान योग को कह रहे हैं ।

पूर्व अध्याय में संन्यास को कहकर अध्याय के अन्त में इच्छादि से रहित विषयों से मोक्ष चाहनेवाला विषयों में भोक्तृत्व होने से, उनसे विमुक्त हो अर्थात् उनका परित्याग कर दे, यह कहा गया है। तत्पश्चात् उनसे विमुक्ति ही फल नहीं है, परन्तु उस विमुक्ति के द्वारा भगवान् में अनुरक्ति फल है, इस कारण भगवान् ध्यान् के स्वरूप का वर्णन कर रहे है। 'अनाश्रित' इति। स्वर्गादि रूप कर्मफल की कामना न करते हुए भगवान् के द्वारा बतलाये गये अवश्य कर्तव्य रूप सेवादि कर्म को करता है, वह त्यागी, संन्यासी तथा योगी कहलाता है। गार्हपत्यादि अग्नियों को छोड़ने वाला संन्यासी नहीं है और न सेवादि कर्म को त्यागने वाला ही योगी होता है ॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

ननु कथमुक्तत्यागवान् योगी न भवेदित्याशंक्याह यं संन्यासमिति। यं संन्यासमिति प्राहुः प्रकर्षेण सर्वात्मभावरूपेण आहुस्तत्स्वरूपविदो भक्तास्तेऽधुनाऽधिकाराभावान्नोच्यन्ते अग्रे वाच्यास्तं हे पाण्डव ! योगं योगरूपं विद्धि जानीहि। पाण्डवेति संबोधनेन ज्ञानयोग्यता निरूपिता। तस्मिन्संन्यासे विप्रयोगरसानुभवरूपे स्वकांक्षित फलत्यागो भवत्यतः संयोगसिद्धिः। अस्मिंस्तदभावाच्च तत्सिद्धिरित्याह न हीति। असंन्यस्तसंकल्पः। न त्यक्तो मानसो नियमः स्वसुखानुभवरूपो येन तादृशः कश्चन भावादिमानपि योगी न भवति। हीति युक्तश्चायमर्थः। यतः स्वसुखानुभवेच्छोः प्रभुसुखानुभवेच्छा नोदेति परस्परमुभयोः स्थितिरेकत्र न संभवत्यतः स्वसुखानुभवरूपमानसनिश्चयत्यागवान् योगी भवतीति भावः ॥२॥

उपर्युक्त त्यागी योगी क्यों नहीं होता, इस प्रकार की शंका करके कहते हैं 'यं संन्यास......'

हे अर्जुन जिसको संन्यास कहते हैं, उसे ही तुम योग समझो, क्योंकि संकल्पों का परित्याग करने वाला कोई भी मनुष्य योगी नहीं होता।

जिसे प्रकर्ष से, सर्वात्म भाव रूप से संन्यास कहते हैं, स्वरूप को जानने वाले भक्तजन, उसे सम्प्रति अधिकाराभाव से नहीं कहते हैं। हे पाण्डव ! आगे कहने योग्य उसे तुम योग रूप ही समझो। यहाँ पर पाण्डव सम्बोधन के द्वारा ज्ञान की योग्यता का निरूपण किया गया है। उस संन्यास में, वियोग रसानुभव में, स्वयं चाहे गये फल का त्याग होता है, इस कारण संयोग सिद्धि होती है। इस सिद्धि में उसके न होने से उसकी सिद्धि नहीं होती है—इसे बतलाते हैं 'न हीति' से। संकल्पों को न त्यागनेवाला, जिसने स्व सुखानुभव रूप अपने संकल्पों को नहीं छोड़ा वह इस प्रकार के भावादिकों से युक्त रहने पर भी योगी नहीं होता है। हि पद से यह विषय ठीक बतलाया है क्योंकि अपने सुखानुभव को चाहने वाले व्यक्ति में प्रभु सुखानुभव की इच्छा नहीं उत्पन्न होती। परस्पर दोनों की स्थिति एक स्थान पर नहीं होती। इस कारण सुखानुभवरूप मन के निश्चय को त्यागने वाला योगी होता है, यह भाव है ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

ननु स्वसुखानुभवसंकल्पत्यागः सिद्धस्य भवति साधनदशापन्नस्य किं कर्तव्यमित्यत आह। आरुरुक्षोरिति। योगम् आरुरुक्षोः संयोगरसप्राप्तीच्छोर्मुनेर्मननशीलस्य कारणं कर्म सेवात्मकमनुकारणरूपमुच्यते कथ्यत इत्यर्थः। तस्यैव सेवादिकरणेन योगारूढस्य संयोगरसव्याप्तमनसः शमः अनुकरणादिवृत्तिरहितभावनाप्रवणस्थितिः कारणमुच्यते कथ्यते तत्प्राप्त्यर्थमिति शेषः ॥३॥

स्वसुखानुभव मन के निश्चय का त्याग तो सिद्ध को होता है, फिर साधनावस्था वाले को क्या करना चाहिये ? इस पर कहते हैं—'आरुरुक्षोः।'

योग में आरूढ़ होने की कामना वाले मननशील पुरुष के लिये योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु है, और योगारूढ़ हो जाने पर

उस योगारूढ पुरुष के लिये सब संकल्पों का अभाव ही कल्याण में हेतु कहा गया है।

संयोग रस की प्राप्ति को चाहने वाले मुनि मननशील पुरुष का सेवात्मकरूप कर्म हेतु कहलाता है। उसी का सेवादि के द्वारा संयोग रस से अभिव्याप्त मन का शम अर्थात् अनुकरणादि कृति से रहित भावना प्रणव स्थिति हेतु कहलाता है। उसकी प्राप्ति के लिये यह शेष है ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

स योगारूढः कथं ज्ञातव्यमित्यत आह । यदा हीति । यदा इन्द्रियार्थेषु रूपादिषु उत्कटतापनिवृत्त्यर्थं स्वप्नादिप्राप्तेषु हीति निश्चयेन पुरुषार्थरूपेण नानुषज्जते नाऽऽसक्तो भवति । न कर्मसु तत्साधककृतिरूपेषु अनुषज्जते= नाऽऽसक्तो भवति । सर्वसंकल्पसंन्यासी मनोनिश्चयात्मकस्वभोगेच्छादित्यागवान् यो नासक्तो भवेत्तदा योगारूढः संयोगभावे प्रतिष्ठित उच्यते कथ्यत इत्यर्थः ॥४॥

उस योगारूढ को कैसे जाना जाय इस पर कहते हैं—'यदा……उच्यते।'

जिस समय न तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है और न कर्मों में ही, उस समय सब संकल्पों का त्याग करने वाला योगी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।

यदाहीति—जब इन्द्रियाँ उत्कट ताप की निवृत्ति के लिये स्वप्नादि में प्राप्त रूपादि विषयों में निश्चितरूपेण आसक्त नहीं होती हैं और न साधक कर्म रूप में ही आसक्त होता है, सर्वसंकल्पों को त्याग देने वाला योगी अर्थात् मन से निश्चित होने वाले अपनी भोगादि इच्छाओं को त्याग देने वाला, आसक्त नहीं होता है, उस समय योगारूढ=संयोगभाव में स्थित कहलाता है ॥४॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

ननु कर्मसु भगवल्लीलानुकरणरूपेषु मनोहरणैकस्वभावेषु कथमासक्तिर्नस्यादित्याकांक्षायामाह उद्धरेदिति। आत्मनापुरुषोत्तमरूपेण आत्मानं जीवं कर्मभ्य उद्धरेत् आत्मानं न अवसादयेत् तत्रैवासक्तियुक्तं न कुर्यात् । हि युक्तश्चायमर्थः । आत्मनो जीवस्य आत्मैव जीव एव बन्धुः हितकृत् । आत्मनो जीवस्य आत्मैव स एव रिपुः शत्रुरत आत्मना आत्मानमुद्धरेद्बन्धु भावेन । न रिपु भावेन अवसादयेत् ॥५॥

मनोहरण प्रकृतिवालों की भगवल्लीलानुकरणकर कर्मों में आसक्ति क्यों नहीं होती है। ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—'उद्धरेद्……'

अपने द्वारा अपने का संसार सागर से उद्धार करे अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि यह जीवात्मा ही अपना मित्र है और यही अपना शत्रु है।

पुरुषोत्तमरूप जीव का कर्मों से उद्धार करे, अपने को अधोगति में न पहुँचावे, कर्मों में आसक्ति न करे। यह अर्थ उपयुक्त है। जीव (आत्मा) का जीव (आत्मा) ही हितकारी है। जीव का जीव ही शत्रु है। अतः अपना बन्धुभाव से उद्धार करे, अरि भाव से अपने को अधोगति में न पहुँचावे ॥५॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

ननु कथं स एव बन्धुः कथं वा स एव शत्रुरित्यत आह बन्धुरिति । येन

आत्मना भावस्वरूपेण आत्मा जितः वशीकृतः अधिकरणादिदेहकृतिभ्यो: भावरूपे स्थापित इत्यर्थः। तस्य आत्मान आत्मैव बन्धुर्हितकृद्भवतीत्यर्थः। स्वस्य दास्यार्थे प्रकटितस्य तदुचितकरणैकभावप्रयुक्त सतोषेण बन्धुस्तद्भाव स्वरूप एव स्वाधिदैविकस्वरूपेण भवतीति भावः तु पुनः। अनात्मनः भावस्वरूपरहितस्य आत्मैव शत्रुवत् शत्रुत्वे तद्भावप्रतिबन्धके वर्तेत। तथा चायमर्थः भावरहितकेवलकर्मासक्तस्वदास्यार्थप्रकटितप्रयोजनरहित स्वस्य स्वरूपानर्थक्यकृतिरोषेणाधिदैविक आत्मा अत्र कर्मसु सेवादिषु तदावेश-प्रतिबन्धको भवेत् ॥६॥

वही आत्मा शत्रु एवं बन्धु कैसे ? इस पर कहते हैं—'बन्धु······।'

उस जीवात्मा का वह स्वयं ही मित्र है। जिस जीवात्मा ने मन तथा इन्द्रियों के साथ शरीर को जीता है और जिसके द्वारा वह शरीर नहीं जीता गया है उसका वह स्वयं ही शत्रु के समान शत्रुता में वर्तता है।

जिस जीव ने आत्मा को जीत लिया अर्थात् वश में कर लिया, अधिकरणादि शरीर कृतियों से भाव रूप में स्थापित कर लिया उसका वह आत्मा ही हितकारी होता है। अपने दास्य के निमित्त प्रस्तुत उचित साधनों के एक भाव रूप में प्रयुक्त सन्तोष के द्वारा वह आत्मा अपने आधिदैविक स्वरूप से बन्धु होता है। परन्तु फिर भाव स्वरूप से रहित आत्मा ही शत्रु के समान शत्रुता में अर्थात् उस भाव-स्वरूप के प्रतिबन्धक रूप में वर्तता है। आशय यह है कि भाव रहित केवल कर्मों में आसक्त अपने दास्य के निमित्त विद्यमान प्रयोजन से रहित अपने स्वरूप के आनर्थक्य से विहित रोष से आत्मा इन सेवादि कर्मों में उस आवेश का प्रतिबन्धक होता है ॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

ननु बन्धुत्वे कथं हितकृद्भवेदित्यत आह जितात्मन इति। जितात्मनः वशीकृतभावात्मनः शीतोष्णसुखदुःखेषु संयोगविप्रयोगेषु प्रशान्तस्य संयोगे स्वसौभाग्यादिमदरहितस्य विप्रयोगे क्लेशेन प्रिये दोषारोपरहितस्य तथा भगवतः सकाशान्मानापमानयोः समस्य परमात्मा पुरुषोत्तमः समाहितस्तदर्थं दास्यदाने सावधानस्तिष्ठति। तद्धृदय एव समाहितस्तिष्ठतीति भावः ॥७॥

बन्धुत्व भाव होने पर किस प्रकार हितकारी होता है, इस पर कहते हैं—
जितात्मनः······मानापमानयोः।

सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिकों में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तः-करण की वृत्तियां शान्त हैं ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित हैं।

स्वाधीन आत्मावाले, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, संयोग-वियोग में शान्त अन्तःकरण वाले, संयोग में अपने सौभाग्यादि मद से रहित है, विप्रयोग में क्लेश के द्वारा प्रिय पर दोषारोपण से रहित तथा भगवान् के समीप मान और अपमान समान मानते हुए उस भगवान् के लिये दास्यदान में सावधान रहने वाले व्यक्ति का हृदय ही समाहित रहता है ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥८॥

ननु परमात्मा हृदयस्थोऽस्तीति कथं ज्ञातव्य इत्याकांक्षायामाह ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मेति। ज्ञाने शास्त्ररीत्या भगवत्स्वरूपज्ञाने विज्ञाने भावात्मक-स्वरूपानुभवे तृप्तः संशयकोटिरहित आत्मा अन् .करणं यस्य। कूटस्थः युक्तो योगारूढ इत्युच्यते। समलोष्टाश्मकांचनः। मृत्पाषाणसुवर्णेषु समो

भगवदीयभावरूपवान् योगी मत्संयोगवानुच्यते मयेतिशेषः। अत्रायं भावः। मृत्तिकायां भगवदङ्गसौगन्ध्यस्मरणेन सेवौपायिक शरीराप्तितापभाववान्। पाषाणे भगवद् विप्रयोग जडतास्मरणेन स्वस्य तदभावतापात्स्निग्धभाववान् सौवर्णे चालौकिककान्तिदर्शनेन रसभाववांस्तथोच्यत इति भावः ॥८॥

हृदय में स्थित परमात्मा किस प्रकार जाना जाता है, इसका समाधान करते हुए कहते हैं—'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'।

ज्ञान और विज्ञान से जिसका अन्तःकरण तृप्त है और जिसकी स्थिति विकार रहित है, इन्द्रियों को जिसने जीत लिया है तथा जिसके लिये मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्ण समान हैं, उस योगी को योगयुक्त कहा जाता है।

शास्त्र की रीति द्वारा भगवत्स्वरूप के ज्ञान में तथा भावात्मक स्वरूप के अनुभव में जिसका अन्तःकरण तृप्त है, जिसका आत्मा समस्त संशयों से रहित है, ऐसा निर्विकार, एक मात्र भगवान् के स्वरूप में निष्ठा रखने वाला विजितेन्द्रिय, अपनी भोग कामना से रहित युक्त अर्थात् योगारूढ कहलाता है। मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्ण में समान भगवद् सम्बन्धी भावना वाला योगी मुझसे संयुक्त कहलाता है। आशय यह है कि मिट्टी में भगवान् के अङ्ग की सुगन्धि के स्मरण से साधन भूत शरीर की प्राप्ति सन्ताप से युक्त होती है। पत्थर में भगवान् के वियोग भूत जड़ता के स्मरण से उसमें तापाभाव के कारण स्निग्ध भाव को रखता है और सुवर्ण में अलौकिक कान्ति के दर्शन से रस भाव वाला होता है ॥८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

किं च। एतत् त्रितय एव न समः किंतु सर्वत्रैव समबुद्धिरुत्तमः इत्याह सुहृदिति। सुहृत् सर्वहितोपदेशकृत मित्रं स्नेहपरवशः। अरि स्वस्मिन्

शत्रुबुद्धिमान्। उदासीनो निरपेक्षः। मध्यस्थो विवदमानयोः सदसद्वाक्यविचारकः। द्वेष्य-सद्भावहीनः। बन्धुः सम्बन्धी। एतेषु साधुषु सदाचारेषु अपि च किं पुनः। पापेषु धर्मविरोधिषु समबुद्धिः भगवद्विप्रयोगेन भगवदात्मबुद्धिस्तेषु वा तद्विप्रयोगेन तथाभावदर्शी विशिष्यते। योगयुक्तेषूत्तम इत्यर्थः। अत्रायं भावः। भगवद्विप्रयोगे तत्सौहार्दस्मरणेनायं सर्वेषु सौहार्दधर्मवान्। तथैव च मित्रधर्मवान् तद्रहितेषु अरि बुद्धिमान् तत्तद्दुःखेन सर्वत्रौदासीन्यधर्मवान् विप्रयोगावस्थायां तदनुकरणेन मध्यस्थ धर्मवान् तथैव तत्क्लेशेन द्वेष्यधर्मवान्। तत्सम्बन्धस्मरणेन बन्धुधर्मवान्। तदर्थं तदाचारवान् तत्तापातिशयेन पापरूपवान् जडत्वधर्मेण। एवं यः समबुद्धिः स विशिष्ट इत्यर्थः ॥९॥

ये तीनों ही समान नहीं हैं, परन्तु सब जगह ही समबुद्धि श्रेष्ठ है, इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं 'सुहृदिति'।

जो पुरुष, सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धुगणों में, धर्मात्माओं में, और पापियों में भी समानभाव वाला है वह अत्यन्त श्रेष्ठ है।

सुहृद्—सब प्रकार के हितकर उपदेश करने वाला मित्र—स्नेह के कारण परवश, अरि—अपने में शत्रु बुद्धिवाला, उदासीन—अपेक्षा रहित, मध्यस्थ—विवाद करने वाले व्यक्तियों में उचित-अनुचित का विचारक, द्वेष्य—सद्भाव से रहित, बन्धु—सम्बन्धी। इनमें सदाचारी व्यक्तियों तथा धर्म के विरोधी पापियों में समबुद्धि अर्थात् भगवान् के वियोग में भगवदात्मक बुद्धि अथवा इनमें उसके विप्रयोग के अभावदर्शी श्रेष्ठ है। योगयुक्तों में श्रेष्ठ है यहाँ पर यह भाव है। भगवान् के विप्रयोग में उसके प्रति सौहार्दस्मरण से यह सबों में सौहार्द धर्मवाला होता है। भक्ति से रहित जनों में शत्रु बुद्धिवाला होता है। तरह तरह के दुःखों से सर्वत्र उदासीन धर्मवाला होता है। विप्रयोग दशा में उसी के अनुकरण से मध्यस्थ धर्मवाला होता है। उसी प्रकार उस क्लेश से द्वेष धर्मवाला होता है। उसके साथ सम्बन्ध के स्मरण से बन्धु धर्मवाला होता है। उसके लिये उस प्रकार के आचार

वाला होता है । उसके तापातिशय से जडताधर्म के कारण पाप रूपवाला होता है । इस प्रकार जो समबुद्धिवाला है वह विशिष्ट है । यह इसका अर्थ है ।।९।।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।।१०।।

एवं योगारूढस्वरूपमुक्त्वा तस्य भावस्वरूपसिद्ध्यर्थं योगसाधनप्रकारमाह 'योगीत्यारभ्य स योगी परमो मतः' इत्यन्तं । यो योगारूढ आत्मानं भावात्मकं रूपं रहसि एकान्ते भगवच्चिन्तनस्थाने स्थितः सन् समाहितः सन् सततं युंजीत भगवति युक्तं कुर्यात् । एकाकी संगदोषरहितः यतचित्तात्मा यतं वशीकृतं स्वभोगादिरहितं चित्तं भावरूपमात्मा देहोऽधिकरणात्मको येन । निराशीः निर्गता मोक्षाद्याऽऽकांक्षा यस्य । अपरिग्रहः संसर्गदुःखज्ञानेन त्यक्तपरिग्रहः सर्वापेक्षारहितः । एवं युक्तचित्तः सन् मद्ध्यानं कुर्यादित्यर्थः ।।१०।।

इस प्रकार योगारूढ के स्वरूप को बतलाकर उसके भाव-स्वरूप की सिद्धि के लिये योग साधना के प्रकार को कहते हैं 'योगी' से 'स योगी परमो मतः' तक ।

जिसने मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर जीत लिया है, ऐसा वासना और संग्रह रहित योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित हुआ निरन्तर आत्मा को परमेश्वर में लगावे ।

योगारूढ योगी अपने को भावात्मक रूप से एकान्त में भगवान् के चिन्तन स्थान में स्थित होकर समाहित चित्त से निरन्तर अपने को परमेश्वर के ध्यान में लगावे । एकाकी—संगदोष से रहित, जिसने अपना चित्त तथा अपनी आत्मा को वश में कर लिया है, जिसकी मोक्ष आदि की आकांक्षा नष्ट हो गई है, जिसने संसर्ग जनित दुःख के ज्ञान से परिग्रह का त्याग कर दिया है, जो सब प्रकार की अपेक्षाओं से रहित है, ऐसा व्यक्ति मुझ में अपना चित्त लगाकर मेरा ध्यान करे ।।१०।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाऽजिनकुशोत्तरम् ।।११।।

स सामग्रीकं ध्यानस्वरूपमाह । शुचाविति । चतुष्टयेन । शुचौ देशे भावात्मकवृन्दावनादौ आत्मनो भगवतः स्थिरं आसनं भावरूपं नात्युच्छ्रितं हृदयाद्बहिः केवलक्रीडायामेव स्थितं । नातिनीचं भावरहितानुकरणात्मकं कीदृशं चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं वस्त्रं भावरूपं स्वैरुत्तरीयैः कुचकुंकुमांकितैरितिन्यायेन अजिनं अधिकरणदेहस्थहृदयकमलात्मकं चैलाजिने कुशेभ्यः श्रीगोवर्धनादिस्थिततृणादिरूपेभ्य उत्तरे यस्मिन् पूर्वं भावरूपतृणानि तदुपरि हृदयात्मकं तदुपरि भावात्मकं वस्त्रमेवं प्रतिष्ठाप्य ।।११।।

सामग्री सहित ध्यान के स्वरूप को बतलाते हैं 'शुचौ''''''——'आदि चार श्लोकों द्वारा ।

शुद्ध भूमि पर कुश, मृगछाला और वस्त्र एक पर एक बिछावे । वे न बहुत नीचे हों और न बहुत ऊँचे ।

पवित्र देश—भावात्मक वृन्दावनादि में भगवान् के स्थिर आसन की कल्पना करनी चाहिये जो अत्यन्त उच्च न हो । हृदय से बाहर केवल क्रीडा के लिये ही स्थित हो । अत्यन्त नीचा न हो अर्थात् भाव रहित अनुकरणात्मक न हो । भाव रूप वस्त्र से युक्त हो । अधिकरण देहस्थ हृदयकमलात्मक चैलाजिन से युक्त हो तथा वह आसन श्रीगोवर्द्धनादि में स्थित तृणादिरूप से निर्मित हो । भाव यह है कि प्रथम भावरूप तृण हों । उनके ऊपर हृदयात्मक अजिन हो, उसके ऊपर भावात्मक वस्त्र को स्थापित करना चाहिये ।।११।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्याऽऽसने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।१२।।

तत्र भगवत्स्वरूपे एकाग्रं केवलदास्यभावेऽनन्यतया स्थितं मनः कृत्वा यताः शान्ताश्चित्तेन्द्रियक्रिया यस्य । चित्तक्रियाः स्वभोगचांचल्यादयः । इन्द्रियक्रियाः स्वतापनिवृत्त्यर्थं दर्शनाद्यभिलाषाः तादृशो भूत्वा । आसने उपविश्य । आत्मशुद्धयर्थं भावस्वरूपसिद्धयर्थं योगं भगवत्संयोगं युंज्यात् अभ्यसेत् ।।१२।।

भगवान् के स्वरूप में केवल दास्य भाव से स्थित हूँ, ऐसा मान कर इन्द्रियों की शान्ति से संतुष्ट भोग के चांचल्य से रहित होकर आसन पर बैठे । इन्द्रिय क्रिया का भाव यह है कि ताप निवृत्ति के लिये दर्शनादि अभिलाषावान् बन कर भावस्वरूप सिद्धि के लिये भगवत्संयोग का अभ्यास करे ।।१२।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चाऽनवलोकयन् ।।१३।।

समं कायशिरोग्रीवं कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं कायपदेन चरणमारभ्य सर्वोऽपि देहः । भक्तिमार्गानुसारेण शिरः सत्यलोकात्मकं । ग्रीवा मुक्तिस्थानं । समं यथास्थितरूपमचलं धारयन् ध्यानं कुर्वन् । स्थितः सन् स्वनासिकाग्रं संप्रेक्ष्य अर्धनिमीलितनेत्रो भावस्थः दिशश्चानवलोकयन् दिग्भावज्ञानशून्यः सर्वत्र भगवद्दर्शनवान् ।।१३।।

काय शिर ग्रीवा को समान स्थित करे । काय पद से चरण से लेकर सम्पूर्ण देह । भक्ति मार्ग के अनुसार शिर सत्य लोकात्मक है । ग्रीवा मुक्ति स्थान है । इन्हें समं अर्थात् यथा स्थित रूप में—अचल रूप में रखे । नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ अर्थात् अर्धनिमीलित नेत्रों से दिग्भाव ज्ञान शून्य होकर सर्वत्र भगवान् का दर्शन करे ।।१३।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।१४।।

प्रशान्तात्मा भक्तिरसाभिनिविष्टचित्तः विगतभीः ब्रह्मचारित्वस्यादि-दुरापचरणरेणुभगवत्प्राप्तिसंदेहरहितः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः भगवदर्थेन्द्रियनिग्रह-वान् तादृशः सन् मनः संयम्य सर्वतः आकृष्य वशे कृत्वा । मच्चित्तो मय्येव चित्तं यस्य मत्परः अहमेव परः पुरुषार्थरूपो यस्य तादृशो भूत्वा युक्तः मद्योगस्थ आसीत् तिष्ठेत् ।।१४।।

भक्तिरस से ओतप्रोत होकर, भगवत्प्राप्ति संदेह से रहित होकर भगवान् के लिये इन्द्रियों का निग्रह करके मन को चारों ओर से खींचकर—बचाकर मुझ में चित्त लगावे । मुझे ही परमपुरुषार्थ रूप मानकर मुझ से संयुक्त रहे ।।१४।।

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।१५।।

एवं योगाभ्यासकर्तुः फलमाह । युंजन्निति । एवं सदा निरंतरं नियतमानसः दास्यैकपरचित्त आत्मानं युंजन्नपि युक्तं कुर्वन् योगी मयि योगवान् निर्वाणपरमां मोक्षाधिकां मत्संस्थां मत्स्वरूपरसात्मिकां शान्तिं वियोगक्लेशादिरहितभावमधिगच्छति प्राप्नोति ।।१५।।

इस प्रकार योगाभ्यास करने वाले को फल प्राप्ति बतलाते हैं 'युंजन्……' श्लोक से ।

इस प्रकार सदा मन नियत कर, दास्य में एक चित्त होकर आत्मा को युक्त करता हुआ भी योगी मुझ में योग करता हुआ मोक्ष से भी अधिक मत्स्वरूपरसात्मिका वियोगक्लेशादि रहित शान्ति भाव को प्राप्त करता है ।।१५।।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।१६।।

एवं योगफलमुक्त्वा तस्य स्थित्यर्थमाहारादिकमाह । नात्यश्नतस्त्विति । अति अश्नतः अधिकभोक्तुर्देहपुष्ट्यर्थं भुंजानस्य न च । एकान्तं सर्वथा अभुंजानस्य भगवत्स्वरूपमज्ञात्वा उपवासं कुर्वतः अतिस्वप्नशीलस्य निद्राशीलस्य सर्वविस्मरणैकस्वभावस्य जाग्रतश्च न चैव योगो मत्संयोगोऽस्ति ॥१६॥

इस प्रकार योग फल बतलाकर उसकी स्थिति के लिये आहारादिक के सम्बन्ध में बतलाते हैं 'नात्यश्नतस्तु' श्लोक से ।

अत्यन्त भोजन करके देह पुष्टि चाहने वाले से योग नहीं होता तथा भगवान् के स्वरूप को न जानकर सर्वथा उपवास करने वाले को भी योग सुलभ नहीं है । अधिक स्वप्नशील, निद्राशील तथा जाग्रत में सब कुछ भूल जाने वाले को भी योग अर्थात् मेरा संयोग सुलभ नहीं है ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

यत एतादृशस्य योगो न भवतीत्यतो यथा योगसिद्धिः स्यात्तथोपायमाह । युक्ताहारेति । युक्त आहारो विहारश्च यस्य भगवत्सेवार्थदेहपोषणार्थं प्रसादं भुंजानस्य । भगवत्सेवार्थानुकरणात्मककर्मसु प्रातरारभ्य स्नानपाकादिरूपेषु नियुक्ता भगवदर्थकरूपा चेष्टा यस्य । युक्तौ स्वप्नावबोधौ भगवद्विश्रामोत्तरक्षणे सेवायां देहालस्यनिवारणार्थं स्वापः सेवासामग्रीसंपादनादिष्ववबोधः एतादृशौ तौ यस्य । तस्य योगो भावात्मको मत्संगात्मको दुःखहा तद्भावाभावतापादिहर्ता भवतीत्यर्थः ॥१७॥

इस प्रकार के व्यक्तियों को योग नहीं होता अतः जिस प्रकार योग सिद्धि होती है उसका उपाय बतलाते हैं 'युक्ताहार''''''''आदि श्लोक द्वारा ।

भगवान् सेवा के लिये देह पोषणार्थ जो आहार करते हैं, भगवान् की सेवा के लिये अनुकरणात्मक कर्मों में प्रातःकाल से लेकर स्नान करना, पाक करना आदि रूप भगवन्निमित्त चेष्टा में रत रहनेवाले तथा भगवद्विश्रामोत्तर क्षण में देह के आलस्य को निकालने के लिये शयन करने वाले, सेवासामग्री संपादन में सावधान रहने वाले को भावात्मक योग—मेरे संग का योग दुःख दूर करने वाला होता है अर्थात् अभावादि तापों का वह निवृत्त करने वाला होता है ॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाव तिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

नन्वेवं प्रवृत्तस्य भगवद्योगसिद्धिः कदा स्यादित्याकांक्षायामाह यदेति । यदा यस्मिन् समये भगवत्संबंधलक्षणभद्रकाले विनियतं वशीभूतं चित्तमात्मन्येव भावात्मकस्वरूप एव अवतिष्ठते स्थिरं भवति सर्वकामेभ्यो लौकिकेभ्यो निस्पृहो विगतेच्छो भवति तदा युक्त इत्युच्यते । सिद्धयोग उच्यत इत्यर्थः ॥१८॥

इस आकांक्षा का उत्तर देते हैं 'यदा' श्लोक से । जिस समय भगवत्संबंध लक्षण भद्रकाल में वशीभूत चित्त भावात्मक स्वरूप में ही स्थिर होता है, सम्पूर्ण लौकिक कामों से विगतेच्छावान् होता है । तब वह युक्त कहा जाता है । अर्थात् उस समय सिद्ध योग होता है ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजते योगमात्मनः ॥१९॥

विनियतचित्तः कीदृग्विधः स्यादित्याकांक्षायामाह । यथेति यथादीपो वायुरहितप्रदेशस्थितो नेङ्गते न चलति यतचित्तस्यात्मनो भगवता योगं युंजतो भावयतो योगिनः सा उपमा स्मृता । अत्र दीपदृष्टान्तस्यायं भावः ।

दीपस्य तापरूपत्वाद्वायोश्च शैत्यधर्मत्वात् तद्रहितदेशे तस्य नाशार्थं चाञ्चल्यं न भवति । तथा भगवद्विप्रयोग तापनिवर्तकधर्मभावेन योगं युञ्जतो मनश्चञ्चलं न भवति ॥१९॥

विनियतचित्त कैसा होना चाहिये इसके उत्तर में 'यथा दीपो.....' कहा है । अर्थात् जिस प्रकार वायुरहित प्रदेश में स्थित दीपक चलता नहीं, भगवान् में योग भावना करने वाले की उपमा वही होती है । दीप दृष्टान्त का भाव यह है कि दीप ताप रूप है । वायु का धर्म शैत्य है । इससे रहित देश में वायु उसके नाश के लिये चंचल नहीं होता । इसी प्रकार भगवद्विप्रयोग ताप निवर्तक धर्मभाव से योग करने वाले का मन चंचल नहीं होता ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

यस्मिन्योगे मनश्चञ्चलं न भवति स कीदृशो योग इत्यपेक्षायामाह यत्रेति सार्द्धैस्त्रिभिः । यत्र यस्यामवस्थायां योगसेवया भावात्मकसंयोगरूपभगवत्सेवया स्वभोगादिभ्यो निरुद्धं चित्तमुपरमते संयोगावस्थाभावरूपसमीपे रमते । यत्र चावस्थाविशेषे विविधभावस्फूर्त्यात्मना भावरूपेणाऽऽत्मानं भावरूपं पश्यन् । आत्मन्येव भावरूप एव तुष्यति तं योगसंज्ञितं विद्यादिति तुर्ये श्लोकत्रयस्यान्वयः ॥२०॥

जिस योग में मन चंचल नहीं होता, उस योग की अवस्था 'यत्रोपरमते.....' आदि साढे तीन श्लोकों में बतलाते हैं । जिस अवस्था में भावात्मक संयोग रूप भगवत्सेवा द्वारा भोगादिकों से निरुद्ध चित्त संयोगावस्था भावरूप समीप में रमण करता है तथा जिस अवस्था विशेष में विविध भाव स्फूर्ति से भावरूप आत्मा से भावरूप आत्मा को देखता है, भावरूप आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसको योगी जानना चाहिये । यह चतुर्थ श्लोक से अन्वित है ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

तेषामुत्पत्तिप्रकारमाह । सुखमिति । यत्र अवस्थाविशेषे तथाभूतसेवानुभवजाताग्रिमविविधमनोरथरूपे आत्यन्तिकमतिशयितं जीवभावप्राप्तिफलात्मकं सुखं बुद्धिग्राह्यं भावात्मकस्वरूपात्मबुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियं लौकिकेन्द्रियसंबंधाविषयं यत् तद्वेत्ति । च पुनः । अयं पुंजीवः यत्रावस्थायां तत्त्वतो भावात्मकदास्यफले रसकोटिस्फूर्तिरहितभावेन स्थितो नैव चलति तं विद्यादित्यग्रिमश्लोकेनैव संबंधः ॥२१॥

'सुखमिति' द्वारा उनकी उत्पत्ति का प्रकार बतलाते हैं । जिस अवस्था विशेष में उस प्रकार की सेवा के अनुभव से उत्पन्न अग्रिम विविध मनोरथ रूप में अत्यधिक जीव भाव प्राप्ति फलात्मक सुख को, भावात्मक स्वरूप आत्मबुद्धि ग्राह्य लौकिकेन्द्रिय संबंध अविषय को जो जानता है तथा यह जीव जिस अवस्था में तत्त्वतः भावात्मक दास्य फल में रसकोटि स्फूर्ति रहित भाव से चलायमान नहीं होता, उसको योगचित समझना चाहिये ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥२२॥

ननु तत्र स्थितस्य चलनाभावः कथमित्यपेक्षायामाह । यं लब्ध्वेति । यं सुखं लब्ध्वा ततोऽधिकमपरं लाभं न मन्यते तत उत्तमत्वाभावात् । यस्मिन् स्थितो गुरुणापि दुःखेन अधिकरणात्मकविप्रयोगादिना न विचाल्यते ॥२२॥

उसमें स्थित का चलनाभाव कैसे होगा यह आशंका होने पर कहते हैं 'यं लब्ध्वा.....' ।

जिस सुख को प्राप्त कर उससे अधिक अपर लाभ को नहीं चाहता, क्योंकि उससे उत्तम कोई है ही नहीं । तथा जिसमें स्थित होकर स्वदेह वियोग प्रभृति महान् कष्ट से भी जो विचलित नहीं होता (उसे यतचित्त जानना चाहिये) ॥२२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा ॥२३॥

तं योगसंज्ञितं मद्योगसंज्ञात्मकं विद्यात् जानीयात् कीदृशं तं दुःखसंयोगवियोगं दुःखात्मको यः संयोगो लौकिकोऽधिकरणदेहस्थो वा तस्य वियोगरूपं यतोऽयं योगः फलसाधकोऽतः स कार्य इत्याह सार्द्धेन । स इति । स पूर्वोक्तः फलसाधकरूपो योगो निश्चयेन गुरूपदिष्टेन अनिर्विण्णेन दुःखज्ञानजप्रवृत्तिशैथिल्यरहितेन मनसा योक्तव्यः इत्यर्थः ॥२३॥

उसको मेरे योग संज्ञारूप में जानना चाहिये । दुःखात्मक जो संयोग लौकिक अधिकरणदेहस्थ अथवा वियोगरूप योग फल साधक होता है । इसे आधे श्लोक से कहा है 'स निश्चयेन' । वह फल साधक रूप योग निश्चय ही गुरुद्वारा उपदिष्ट दुःखज्ञान से उत्पन्न जो प्रवृत्ति उसके शैथिल्य से रहित मन से करना चाहिये ॥२३॥

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

किञ्च । संकल्पप्रभवान् स्वभोगार्थं स्वमनोनिश्चयजान् कामान् स्वरमणेच्छादिरूपान् सर्वान् भावान्तरमपि स्वेङ्गितज्ञरूपान् अशेषतः फलाभावज्ञाने त्यक्त्वा मनसैवेन्द्रियग्रामं नियम्य भगवदंशात्मकलावण्यादिरसान् पश्यन् मनसैव स्वार्थभोगरूपेभ्य एव ततः विषयेभ्यो विनियम्य वशे संस्थाप्य योगो योक्तव्य इत्यर्थः ॥२४॥

अपने ही भोग के लिये अपने मन के निश्चय से उत्पन्न कामों को अपनी रमणेच्छादिरूप सम्पूर्ण भावों के अनन्तर भी अपने इंगित को जानने वालों के रूपों को फलाभाव ज्ञान से त्यागकर मन से ही इन्द्रियग्राम का नियमन कर भगवदंशात्मक लावण्यादिरसों को देखता हुआ मन से ही स्वार्थ भोग रूप से ही विषयों से विरामकर योग करना चाहिये ॥२४॥

शनैः शनैरुपमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

ननु कथमिन्द्रियग्रामं विनियच्छेदित्यपेक्षायामाह । शनैःशनैरिति । धृतिगृहीतया वियोगतापादिदुःखसहनशीलधैर्यगृहीतया बुद्ध्या मनः आत्मसंस्थं भावात्मकस्थितं कृत्वा शनैः शनैरुपरमेत् स्वभोगरूपेभ्य उपशमयेत् । कथमुपरतिर्भवेदित्यत आह । न किंचिदपि चिन्तयेदिति । भावात्मकस्वरूपातिरिक्तं किंचिदपि न चिन्तयेन्न भावयेत् ॥२५॥

इन्द्रियग्राम का नियमन कैसे करना चाहिये इस अपेक्षा में कहा है — 'शनैः शनैः……'

वियोग तापादि दुःख सहन शील धैर्य से गृहीत बुद्धि से मन की भावात्मक स्थिति करके धीरे धीरे स्वभोग रूपों से शान्ति करे । भावात्मक स्वरूप के अतिरिक्त कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिये या भावना नहीं करना चाहिये ॥२५॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

शनैरित्युक्तेः स्वरूपमाह यत इति । मनो यतोयतः स्वभावतश्चंचलम् । अस्थिरम् । यं यं प्रति निश्चलति ततस्ततो नियम्य वशीकृत्य एतत् मन आत्मन्येव भावात्मके भगवत्येव वशं नयेत् प्रापयेत् । अत्रायं भावः । पूर्वं यत्र स्थितं मनस्ततोऽन्यत्र वैशिष्ट्यबुद्ध्या ततो निर्गत्याऽन्यगच्छति । तत्राऽपि स्व-चांचल्यधर्मेण न स्थिरी भविष्यति तस्माद्भगवत्स्वरूपतोऽन्यत्रोत्तमत्वाभावान्नातो चलिष्यत्यतोऽन्यतो वशीकृत्य भगवति स्थापयेत् ॥२६॥

शनैः का स्वरूप बतलाते हैं 'यत.......' श्लोक से । मन जैसे जैसे स्वभावतः चंचल अस्थिर वस्तु को प्राप्त कर निश्चल होता है वैसे ही उसे वश में करके भावात्मक आत्मा में भगवान् में ही वश करे । भाव यह है कि पहले स्थित मन वैशिष्ट्यबुद्धि से वहाँ से निकलकर जहाँ चला जाता है वहाँ भी अपनी चंचलता के कारण स्थिर नहीं होता । भगवान् के स्वरूप से अन्यत्र कहीं उत्तमता ही नहीं है अतः आगे नहीं जायगा । अतः अन्य स्थान से वश में करके उसे भगवान् में ही लगा देना चाहिये ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

एवं भावात्मके भगवति मनः स्थैर्ये यत्फलं स्यात्तदाह । प्रशान्तमनसमिति । प्रशान्तमनसं भगवति स्थिरमनसमेनं योगिनं शान्तरजसं विक्षेपदोषरहितमुत्तमं सुखं ब्रह्मभूतं भगवद्रसात्मकमकल्मषं स्वभोगादिसुखदोषरहितमुपैति ॥२७॥

भावात्मक भगवान् में मन की स्थिरता का जो फल होगा उसे बतलाते हैं— 'प्रशान्त मनसम्.........' कहकर । भगवान् में स्थिर मन वाले योगी को विक्षेप दोष से रहित उत्तम सुख जो भगवद् रस से संवलित है, स्वभोगादि सुख दोष रहित हो जाता है ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

एवं सुखाप्तौ किं स्यादित्यत आह युंजन्निति । एवं पूर्वोक्त प्रकारेण सदा भगवति आत्मानं भावात्मकं युंजन् योगी विगतकल्मषः स्यात् । ततः प्राप्तेनानेन सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं भगवच्चरणारविन्दसंवाहनादिसेवारूपमत्यन्तं सुखं दास्यात्मकमश्नुते भुंजत इत्यर्थः ॥२८॥

ऐसा सुख पाकर योगी कैसा हो जाता है यह बतलाने के लिये कहा है 'युंजन्.......' ।

इस सुख प्राप्ति से भावात्मक भगवान् में युक्त रहता योगी विगत कल्मष हो जाता है । तथा इस सुख से ही भगवान् के चरणारविन्द संवाहन सेवारूप अत्यन्त दास्यात्मक सुख को भोग करता है । ॥२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

ब्रह्मसंस्पर्शसुखं स्पष्टयति । सर्वभूतस्थमिति । योगयुक्तात्मना भगवत्संयोगयुक्त आत्मा सर्वत्र संयोगविप्रयोगभावे समदर्शनं आत्मानं भगवन्तं सर्वभूतस्थं विप्रयोगावस्थायां च पुनरात्मनि भगवत्स्वरूपे संयोगावस्थायां सर्वभूतानि सेवास्थितानि ईक्षते पश्यतीत्यर्थः । एतेन भगवत्स्वरूपज्ञानात्मसुखमुक्तमिति भावः ॥२९॥

ब्रह्म संस्पर्शसुख का स्पष्टीकरण किया है 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' श्लोक से ।

भगवान् के संयोग से युक्त आत्मावाला सर्वत्र संयोग विप्रयोग के भाव में समदर्शन होकर भगवान् को सर्वत्र सर्व भूतों में विप्रयोगावस्था में देखता है तथा संयोगावस्था में भगवत्स्वरूप आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को सेवा में स्थित देखता है। इससे भगवत्स्वरूप आत्मात्मक सुख कहा गया है ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

एवं स्वरूपज्ञानफलमाह यो मामिति । यः सर्वत्र जीवेषु वियोगावस्थायां मां पश्यति संयोगावस्थायां मयि सर्वं पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि न कदाचिदपि वियुक्तो भवामि । स च मे मत्तः न प्रणश्यति न वियुक्तो भवतीत्यर्थः ॥३०॥

इस प्रकार के स्वरूपज्ञान का फल बतलाते हैं—'यो मां पश्यति' से ।

जो वियोगावस्था में मुझे सम्पूर्ण जीवों में देखता है तथा जो संयोगावस्था में मुझ में सब को देखता है, मैं उससे कभी वियुक्त नहीं होता । वह मुझ से कभी वियुक्त नहीं होता ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥

किं च । यः सर्वभूतस्थितं सर्वजीवेषु रसभोगार्थं वाऽलौकिकेषु निरोधार्थं स्थितं एकत्वं भगवदीयत्वेन सजातीयत्वमास्थितं मां भजति स योगी उच्यते । अथवा सर्वथा तेषु दास्यादिभावशिक्षणार्थं वर्त्तमानो यः स मयि च वर्त्तते मत्स्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः ॥३१॥

जो सर्वजीवों में रस भोग के लिये या अलौकिकों के निरोध के लिये स्थित है तथा उन पदार्थों में भगवदीय सजातीयत्व भाव से स्थित होकर मेरा भजन करता है वह योगी कहा जाता है । अथवा उनमें सर्वदा दास्यादि भाव शिक्षा के लिये विद्यमान होकर जो मुझ में स्थित रहता है, मेरे स्वरूप में रहता है ॥३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

ननु सर्वत्र कथमेकात्मत्वेन वर्तते ? इत्यत आह आत्मौपम्येनेति आत्मौपम्येन स्वसादृश्येन यथा स्वस्य कृपया संयोगरसाप्तौ सुखं वियोगरसाप्तौ दुःखं तथा सर्वत्र सर्वजीवेषु सुखं यदि वा दुःखं समं यः पश्यति स योगी मम परम उत्कृष्टो मतोऽभिमत इत्यर्थः अत्रायं भावः । योऽलौकिकसुखदुःखाभिनिविष्टेष्वपि जीवेषु यथा स्वस्य तदंशलेशज्ञानेन सुखदुःखरसानुभवो भवति तथैव सर्वेषामप्यस्ति । एवं यस्य सर्वत्रालौकिकस्फूर्तिः स्यात् स उत्तम इति भावः ॥३२॥

सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व कैसे रहता है इसका प्रतिपादन किया है 'आत्मौपम्येन……' से ।

स्व सादृश्य से जैसे अपनी ही कृपा से संयोग रस प्राप्ति में सुख एवं वियोग रस प्राप्ति में दुःख मिलता है वैसे ही सर्वत्र समस्त जीवों में सुख दुःख को समान रूप में देखता है, वह योगी परम उत्कृष्ट माना जाता है । भाव यह है कि लौकिक सुख-दुःख से व्याप्त जीवों में जैसे अपने उसके अंश लेश के ज्ञान से -दुःख के रस का अनुभव होता है, वैसे ही सब को भी है । इस प्रकार जिसे न अलौकिक स्फूर्ति हो, वही उत्तम है, यह भाव है ॥३२॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिंस्थिराम् ॥३३॥

उक्तभावसिद्धयर्थं साधनमर्जुन पृच्छति । अर्जुन उवाच । योऽयं योग इति हे मधुसूदन दुष्टनिराकरणसमर्थं अयं योगस्त्वया साम्येन सुख-दुःख-साम्येन स्वसाम्येन सर्वेषु प्रोक्तः । एतस्य योगस्याऽहं अभिमानयुक्तत्वान्मनसश्चंचलत्वात् स्थिति स्थिरां निश्चलां न पश्यामि ॥३३॥

उस भाव की सिद्धि के साधन का प्रश्न अर्जुन करता है ।

हे दुष्टनिवारण समर्थ ! (मधुसूदन) यह योग आपने सुख दुःख के साम्य से, अपने साम्य से, सबके लिये कहा है । इस योग को और इसकी स्थिर गति को चंचल मन होने के कारण मैं नहीं समझ पा रहा हूं ॥३३॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

मनसश्चांचल्यमेवाह चंचलं हीति । हे कृष्ण सदानन्द ! मनो हीति निश्चयेन चंचलं स्वभावत एव चपलं अन्यथा सदानन्दोक्तौ कथं पुनः प्रश्नार्थमहमुद्युक्त इति कृष्णेति संबोधनेन ज्ञापितम् । किं च प्रमाथि प्रकर्षेण मथनशीलं इन्द्रियक्षोभकम् । किं च बलवत् । अतिप्रबलं ज्ञानादिवचनासाध्यम् । किं च । दृढं स्वविषयानुरागाऽत्यागस्वभावम् । तस्य मनसो निग्रहं वशीकरणमाकाशे दोधूयमानस्य स्वसुखार्थं तापनिवारणाय गृहादिषु वायोरिव निरोधनं सुदुष्करं सर्वथा कर्तुमशक्यमहं मन्ये । यद्वा । वायोः प्राणवायोर्गच्छतो निरोधमशक्यं मन्य इति भावः ॥३४॥

मन के चांचल्य का प्रतिपादन किया है 'चंचलं हि मनः' से ।

हे सदानन्द ! मन स्वभाव से ही चंचल है अन्यथा जब साक्षात् भगवान् ही वक्ता हैं तो पुनः प्रश्न का प्रयोजन ही क्या ? यह कृष्ण सम्बोधन से ज्ञापित है । यह मन इन्द्रियों को क्षोभ देने वाला है । ज्ञानादि वचनों से असाध्य है । यह मन अपने विषयानुराग का स्वभाव कभी नहीं छोड़ता । इस मन का वशीकरण उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार आकाश में तापनिवारण के लिये गृह निर्माण करके उड़ते हुए पवन का निरोध करना । अथवा जिस प्रकार प्राण वायु का बहिर्गमन रोका नहीं जा सकता उसी प्रकार इस चंचल मन का निरोध भी नहीं किया जा सकता ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

एवमर्जुनोक्तचंचलत्वादिकमंगीकृत्य तन्निग्रहसाधनमाह भगवान् । भगवानुवाच । असंशयमिति । हे महाबाहो ! क्रियाशक्तिसमर्थ । मनो दुर्निग्रहं चंचलं यद्वदसि तदसंशयं निःसन्दिग्धं तादृशमेवास्तु तु पुनस्तथापि कौन्तेय मद्भक्तिविश्वसनंकयोग्य ! भक्तपुत्र! अभ्यासेन यतो यतो निश्चलतीति पूर्वोक्तप्रकारेणाऽन्यत्र हीनत्वज्ञानपूर्वकमप्युत्तमज्ञानेन चांचल्यानुसरणप्रकारेण गृह्यते । च पुनः । तथा ज्ञानेन मत्सम्बन्धातिरिक्तेषु वैराग्येण गृह्यते वशीक्रियत इत्यर्थः ॥३५॥

इस प्रकार अर्जुन द्वारा कथित मन की चंचलता को स्वीकार करते हुए भगवान् बोले—'असंशयं.....' ।

हे क्रियाशक्ति समर्थ ! मन की अग्राह्यता जैसी तुमने कही है वह निस्संदेह वैसी ही है तथापि, मेरे वचनों में विश्वास परायण भक्तपुत्र अर्जुन ! वह अस्थिर मन भी अन्यत्र हीनत्व के ज्ञान तथा उत्तम ज्ञान के अभ्यास द्वारा गृहीत होता है । मेरे अतिरिक्त अन्यों के प्रति वैराग्य से भी मन को वश में किया जाता है ॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अथ यो मनश्चंचलमिति ज्ञात्वाऽभ्यासवैराग्ययोर्यत्ननिरपेक्षः स नाप्नोतीत्याह । असंयतात्मनेति । असंयतात्मना उक्तप्रकारेणाभ्यासवैराग्याभ्यामसंयतः अवशीकृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य तेन योगो मत्संयोगात्मको दुष्प्रापः दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यः । वश्यात्मना तु अभ्यासवैराग्यवशीकृतयत्नेन यतता मत्संयोगार्थं यत्नं कुर्वता उपायतोऽवाप्तुं प्राप्तुं शक्य इति मे मतिः । अत्र स्वमतित्वकथनेन मदुक्तिविश्वासपूर्वकं यो यतेत तस्याऽवश्यं मया संयोगः फलदानं कर्तुं मनोनिग्रहः करणीय इति व्यञ्जितम् ॥३६॥

जो मन की चंचलता को जान लेता है, अभ्यास और वैराग्य में यत्न भी नहीं करना चाहता, वह उसे स्थिर नहीं कर सकता, अतः कहा है 'असंयतात्मना.........' । जिसने आत्मा को वश में नहीं किया उसे मेरी प्राप्ति दुष्कर है । दुःख पूर्वक भी वह मुझे प्राप्त नहीं कर सकता । जो अभ्यास वैराग्य पूर्वक यत्न करता है, अर्थात् मुझे प्राप्त करने का प्रयास करता है, वह उपाय से मुझे निश्चित प्राप्त कर सकता है । इस स्थल में स्वमति कथन है । इसका आशय है कि मेरे विश्वास पूर्वक जो यत्न करता है उसे अवश्य ही मेरी प्राप्ति के लिये मनोनिग्रह करना चाहिये ॥३६॥

अर्जुनउवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अथ भवदुक्तिविश्वासेन केवलं श्रद्धया अभ्यासवैराग्यरहितो यत्नं कुर्वन् पश्चात्सिद्धिं प्राप्नोति नवेति प्रभुं विज्ञापयत्यर्जुनः । अर्जुन उवाच । अयतिरिति श्रद्धया भवदुक्तिश्रद्धामात्रेण उपेतो भगवत्संयोगात्मकयोगार्थं प्रवृत्तः अयतिः अभ्यासवैराग्ययोः शिथिलप्रयत्नः स्वरूपज्ञानाभावाद्योगाच्चलितमानसो भवति । ततो योगसिद्धिमपि न प्राप्नुयात् तदाह योगसंसिद्धिमप्राप्य कृष्ण सदानन्द ! त्वदुक्तिविश्वासप्रवृत्तस्य सिद्धिरेवोचितेति विज्ञाप्य कां गतिं गच्छतीति पृष्टवान् ॥३७॥

यदि केवल आपके वचनों का विश्वास करते हुए अभ्यास वैराग्य से रहित होकर श्रद्धापूर्वक यत्न करने वाला सिद्धि प्राप्त करेगा या नहीं, ऐसी शंका होने पर अर्जुन 'अयतिः.........' द्वारा पूछता है ।

आपकी उक्ति में श्रद्धा मात्र से युक्त होकर भगवत् संयोगात्मक योग के लिये प्रवृत्त हुआ अभ्यास वैराग्य में शिथिल प्रयत्न वाला स्वरूप ज्ञान के अभाव में चलित मन हो जाता है । तब योग सिद्धि को भी प्राप्त नहीं कर सकता । अतः कहा है, हे सदानन्द (कृष्ण) आपकी उक्ति में विश्वास से प्रवृत्त हुए की सिद्धि उचित ही है, ऐसा जानकर किस गति को प्राप्त किया जा सकता है ॥३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

स्वबुद्धिपरिकल्पितसंदेहविनिवृत्त्यर्थं स्वबुद्धिसंदेहमेव विवृणोति कच्चिदिति । पूर्वप्रवृत्तकर्मादित्यागेन योगमार्गे अप्रतिष्ठो निराश्रयः । अभ्यासाभावेन स्वरूपाज्ञानाद् ब्रह्मणः पथि भगवत्प्राप्त्येकयत्नमार्गे विमूढो वैराग्याभावात् । हे महाबाहो ! सर्वकृपाकरणसमर्थ एवमुभयविभ्रष्टः सन् छिन्नाभ्रमिव यथा छिन्नमभ्रं पूर्वाभ्राद्वियुक्तमभ्रान्तराऽमिलितं सम्मध्य एव विनश्यति तथा पूर्वधर्मत्यागेन स्वधर्मोपार्जितमोक्षफलरहितो भगवन्मार्ग-

स्वल्पाज्ञानात् स्वरूपसंयोगरहितो जीवस्वरूपाप्तिभावरहितः कश्चिन्नो नश्यति ॥३८॥

अपनी बुद्धि से परिकल्पित संदेह की निवृत्ति के लिये अर्जुन अपने बुद्धि सन्देह को प्रकट करता है 'कच्चित्........' ।

पूर्व प्रवृत्त कर्मादि त्याग से योग मार्ग में निराश्रय होकर अभ्यास के प्रभाव से स्वरूप को न जानकर भगवत्प्राप्ति के मार्ग में वैराग्य के अभाव से दृढ़ होता है। हे महाबाहु ! सब जीवों पर कृपा करने में समर्थ ! इस प्रकार दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ, छिन्न अभ्र=बादल की तरह अर्थात् छिन्न मेघ पूर्व मेघ से वियुक्त होकर अन्य बादलों से न मिलकर मध्य में ही नष्ट हो जाता है। वैसे ही पूर्व धर्म त्याग से अपने धर्म से उपार्जित मोक्षफल से रहित होकर भगवत् मार्ग के स्वरूप को न जानकर स्वरूप संयोग से रहित अर्थात् जीव स्वरूप प्राप्ति भाव से रहित कभी नष्ट नहीं होता ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! दास्येन सदानन्ददानसमर्थ एतन्मे संशयं मन्मनोगत-संशयम्। स तु न नश्यत्येव त्वदुक्तिविश्वासात् परं मत्संशयमशेषतः सोपपत्तिकाज्ञारूपवाक्यैश्छेत्तुं दूरीकर्तुमर्हसि। नन्वन्यत्र गुर्वादिषु भक्तेषु च विज्ञाप्य संशयं दूरीकुर्वित्यत आह। त्वदन्य इति अस्य मद्गतस्य त्वदेकप्राप्यैकनिष्ठस्य मम संशयस्य छेत्ता त्वदन्यः त्वां विना हि निश्चयेन अन्यो नोपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! (दास्य से सदा आनन्ददान समर्थ) मेरे मनोगत संशय का नाश आपकी उक्ति मात्र से असंभव है। वह आज्ञा रूप वाक्यों से ही दूर हो सकता है। यदि यह कहें कि अन्यत्र गुरु आदि भक्तों के पास जाकर संशय नाश किया जा

सकता है। अतः कहते हैं आपके ही वाक्य को सर्वोपरि मानने वाले मेरे संशय को छेत्ता=काटने वाले आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

एवं निश्चयात्मकमर्जुनस्य संशयवाक्यं श्रुत्वा भगवांस्तमाह । श्रीभगवानुवाच । पार्थेति । हे पार्थ ! सर्वसंशयानर्ह । इह लोके पूर्वत्यक्तकर्मानुकरणविहितधर्मभक्त्यादौ अमुत्र लोके परदास्यादिरूपे तस्य मदुक्तिविश्वासप्रवृत्तस्य विनाशः विशेषेण नाशोऽप्यदर्शनं न विद्यते । श्रद्धया मदुक्तिविश्वासप्रवृत्तो कथं नाशः स्यादतोऽसाधारण्येनोत्तमप्रकृतिप्रवृत्तस्य नाशो न भवतीत्याह । न हीति । भक्तत्वात्स्वबालकत्वेन तातेति संबोध्योपदिष्टम् । कल्याणकृत् धर्मादिबुद्ध्याफलेच्छासाधारण्येन शुभकृत् होति निश्चयेन दुर्गतिं न गच्छति । तत्र श्रद्धयाऽत्र प्रवृत्तः कथं नश्येदित्यर्थः ॥४०॥

इस प्रकार अर्जुन के निश्चयात्मक वाक्य सुनकर भगवान् ने कहा—हे पार्थ ! (संशय के अयोग्य) पूर्वत्यक्त कर्मवाले को एवं अनुकरण विहित धर्म भक्ति आदि में रत इस लोक में भगवान् की दास्यता को करने वाले को मेरी उक्ति में विश्वास पूर्वक प्रवृत्त को नाश अदर्शन नहीं होता। श्रद्धा पूर्वक मेरे कथन में विश्वास से प्रवृत्त होने पर नाश नहीं होगा क्योंकि असाधारण से उत्तम प्रकृति प्रवृत्त का नाश नहीं होता, अतः कहा है—'नहि कल्याणकृत्......' भक्त एवं बालक होने के कारण तात सम्बोधन पूर्वक भगवान् कहते हैं कि कल्याण करने वाला अर्थात् धर्मादिबुद्धि से फलेच्छा की असाधारणता से शुभ करने वाला निश्चय ही दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त का नाश तो कथमपि संभव नहीं है ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वती समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

एवं नाशाभावमुक्त्वा तस्य गतिस्वरूपमाह प्राप्येति । स योगभ्रष्टः स्वरूपाज्ञानादभ्यासवैराग्याभावादभ्यस्य मानमार्गाद्भ्रष्टः पुण्यकृतां यज्ञादिकारिणां लोकान् श्रद्धामात्रप्रवृत्तिसाधनेन तत्फलभोगविचिकित्साजनितपूर्वप्रवृत्तमार्गस्वरूपज्ञानार्थं प्राप्य तत्र शाश्वतीः समाः बहून् संवत्सरान् उषित्वा स्थित्वा तत्फलभोगं कृत्वा तत्र विचिकित्सयाऽभावकेन मनसा पूर्वश्रद्धासाधनेनैव भवति । जन्म प्रार्थनया शुचीनां कापट्यादिदोषरहितानां श्रीमतां भगवच्छ्रीयायुक्तानां भक्तानां गृहेऽभिजायते जन्म प्राप्नोति । उपसर्गेण सर्वात पूर्वकं प्राप्तिर्ज्ञापिता ॥४१॥

इस प्रकार नाश का अभाव बतलाकर उसकी गति का स्वरूप बतलाते हैं 'प्राप्य......' इस श्लोक से ।

स्वरूप को न जानने से, अभ्यास वैराग्य के अभाव से अभ्यस्य, मान मार्ग से भ्रष्ट होकर यज्ञादि करने वालों के लोकों में रहकर (श्रद्धा मात्र प्रवृत्ति साधन से उसके फलभोग की इच्छा से उत्पन्न पूर्व प्रवृत्तमार्ग स्वरूप के जानने के लिये उन लोक को प्राप्त कर) वहाँ बहुत समय पर्यन्त रहकर उस फल के भोग को भोगकर संशय के अभाव को प्राप्त करता है । जन्म की प्रार्थना से कपटादि दोषों से रहित श्रीयुक्तभगवत् योगायुक्त भक्तों के घर जन्म लेता है । अभिजायते में अभि उपसर्ग है जो प्राप्ति का ज्ञापन करा रहा है ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

पक्षान्तरमाह अथवा धीमतां स्वरूपज्ञानवतां कुले भवति जन्म प्राप्नोति । धीमत्पदोक्त्या तत्कुलप्रसूतिमात्रेण ज्ञानोत्पत्तिर्व्यञ्जिता । जन्मविशिनष्टि । एतदिति । हीति निश्चयेनैतद्दुर्लभतरं यल्लोके ईदृशं भगवत्स्वरूपज्ञानात्मकं जन्म ॥४२॥

पक्षान्तर बतलाते हैं । अथवा स्वरूप ज्ञान वालों के कुल में जन्म ग्रहण करता है । धीमत् शब्द के प्रयोग से उस कुल में जन्म मात्र से ज्ञानोत्पत्ति व्यंजित है । जन्म के वैशिष्ट्य का वर्णन निश्चय ही दुर्लभतर है । यह कि लोक में भगवत्स्वरूप ज्ञानात्मक जन्म हो ॥४२॥

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

तादृशजन्मानन्तरं किं स्यादित्यत आह तत्र तमिति । तत्र तस्मिन् जन्मद्वयेऽपि तं पौर्वदैहिकं भगवत्कृपालब्ध जीवभावानन्तरप्राप्तं प्रथमदेहसंबन्धिनं बुद्धिसंयोगं भगवत्सेवार्थप्रकटितज्ञानरूपं भगवदीयकुलजन्ममात्रेण लभते । च पुनः तं लब्ध्वा भूयः संसिद्धौ सम्यक्सिद्ध्यर्थं तथा भगवत्प्राप्त्यर्थं यतते यत्नं करोति । कुरुनन्दनेति संबोधनं विश्वासार्थम् ॥४३॥

ऐसे जन्म के उपरान्त क्या होता है, इसे बतलाते हैं । जन्म द्वय में भी पौर्वदैहिक भगवत्कृपा लब्ध जीव भाव के अनन्तर प्राप्त प्रथम देह से सम्बद्ध बुद्धि संयोग को भगवत् सेवा के लिये प्रकटित ज्ञान रूप को भगवदीय कुल जन्म मात्र से प्राप्त करता है तथा जन्म पाकर भगवान् की प्राप्ति के लिये पुनः यत्न करता है । कुरुनन्दन सम्बोधन विश्वासार्थ है ॥४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥४४॥

ननु भूयोऽपि यत्ने पूर्ववदेव चेत्स्यात्तदा किं जन्मना यत्नेन चेत्याशंक्याह । पूर्वाभ्यासेनेति । तेनैव पूर्वाभ्यासेन श्रद्धामयेन अवशोऽपि तादृक्कुलजन्मप्राप्त्या कुलरीत्यापि अन्यभावेभ्यो ह्रियते परावर्त्तते । भगवत्संयोगरसनिष्ठः क्रियत इति भावः । ननु पूर्वप्रवृत्त्या श्रद्धायुक्तया चेन्नसिद्धिरभूत्तदा कथमिदानीं तेनैव साधनेन सिद्धिर्भविष्यतीत्याशंक्याह । जिज्ञासुरपीति । योगस्य स्वरूपजिज्ञासुरेव शब्दब्रह्मनामरूपात्मकं विप्रयोगसामयिकजीवनहेतुरूपम् अतिवर्त्तते अतिक्रामति । परमक्लेशाविर्भावेन गुणगानादित्यागेन लौकिकदेहत्यागेनालौकिकदेहमाप्नोतीति भावः । तथाचायमर्थः । पूर्वं श्रद्धया प्रवृत्तस्तु योगजिज्ञासया न प्रवृत्तः किन्तु साधारण्येन वाक्यश्रद्धयैव प्रवृत्तो तेन सिद्धिरभूदधुना तूत्तमकुलजन्मप्राप्त्या तत्स्वरूपं कुरुते अतः प्राप्स्यतीति ॥४४॥

यदि पुनः किये यत्न में भी पूर्ववत् ही हो तब जन्म के यत्न से क्या ? इस शंका का समाधान करते है 'पूर्वाभ्यासेन' श्लोक द्वारा । उसी श्रद्धामय पूर्वाभ्यास से वैसे कुल में जन्म पाकर कुलरीति के कारण अन्य भावों से परावर्तित होता है। भगवत् संयोग रस में वह निष्ठ होता है, यह भाव है। पूर्व प्रवृत्ति से श्रद्धायुक्त होने पर भी यदि सिद्धि न हो तो फिर उसी साधन से कैसे सिद्धि होगी इसका उत्तर देते हुए कहते है, योग का जिज्ञासु ही शब्द ब्रह्म नाम रूपात्मक विप्रयोग सामयिक जीवन हेतु रूप को अतिक्रमण करता है। परम क्लेश के आविर्भाव से, गुणगानादि के त्याग से, लौकिक देह त्याग से अलौकिक देह को प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि पहले तो श्रद्धा से प्रवृत होने के कारण योग जिज्ञासा का भाव नहीं था। साधारणतया वाक्य श्रद्धा से प्रवृति होने के कारण ही सिद्धि हो गई थी। अब तो उत्तमकुल में जन्म की प्राप्ति है। अतः प्राप्ति स्वाभाविक ही है ॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

एतादृशकुलजन्माभावेऽपि यत्नवान् प्राप्नुयात् तत तादृक्कुलोत्पन्नप्राप्तौ किं वक्तव्यमित्याह प्रयत्नादिति । यः सामान्यो न तु तादृशजन्मवानेव प्रयत्नाद्यतमानः संशुद्धकिल्विषः तद्भावज्ञानप्रतिबन्धपापरहितो योगी योगस्वरूपज्ञानवान् भवति । तु पुनः । अनेकजन्मसंसिद्धः अनेकजन्मभिर्यतमानः सन् सिद्धः प्राप्तयोगफलो भवति । ततः परां गतिं दास्यरूपां याति प्राप्नोतीत्यर्थः । यतो मत्संयोगात्मको योग उत्तमस्तस्मात्त्वं योगी भवेति ॥४५॥

ऐसे कुल में जन्म के अभाव में भी यत्न करने वाला प्राप्त करता है तो यदि पूर्ववर्णित कुल में जन्म हो तब तो अवश्य ही श्रेयस्कर है। जो सामान्य है, पूर्व वर्णित जन्म लेने वाला नहीं है, प्रयत्न से चेष्टा में रत है, पाप रहित है तथा योग स्वरूप को जानने वाला है, वह अनेक जन्मों में प्रयत्न करता हुआ योग रूप प्राप्त करता है। तदनन्तर दास्यरूपा परमा गति को प्राप्त करता है, क्योंकि मेरे संयोगवाला योग उत्तम है। अतः अर्जुन, तुम भी योगी बनो ॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगस्य सर्वाधिकत्वं प्रतिपादयन्नेवाह । तपस्विभ्य इति । तपस्विभ्यः योगस्वरूपाज्ञाने तदभिलाषाभावेन केवलक्लेशसहनशीलेभ्यो योगी अधिकः । किं च ज्ञानिभ्यः ज्ञानेन संन्यासादिधर्मसंयुक्तेभ्योऽपि योगी अधिको मतः मेऽभिमतः । ज्ञानी च पुनः कर्मिभ्यो यज्ञनित्यादिनिष्ठेभ्यो योगी अधिको मतः । तस्मात् हे अर्जुन ! मत्स्नेहैकयोग्य ! त्वं योगी भव युक्तो योगनिष्ठो भवेत्यर्थः ॥४६॥

योग ही सर्वश्रेष्ठ है, इसका प्रतिपादन करने के लिये 'तपस्विभ्यः……' श्लोक कहा है। योग स्वरूप न जानने वाले केवल क्लेश सहने वाले से योगी बढ़ कर माना गया है। ज्ञानपूर्वक संन्यासादि धर्म युक्तों से भी योगी श्रेष्ठ है, यह

मेरा मत है । यज्ञादिनिष्ठ ऋषियों से भी योगी श्रेष्ठ है । अतः हे अर्जुन ! मेरे स्नेह के योग्य ! तुम योगनिष्ठ बनो ।।४६।।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।४७।।

योगिनोऽपि बहुविधा इति तन्मध्ये दास्यधर्मेण भजनवानुत्तम इत्याह । योगिनामपीति । सर्वेषामपि योगिनां मध्ये योगिनस्त्रिविधाः । योगाभ्यासेन भगवद्ध्याननिष्ठाः । भक्तियोगेन साधनसेवनपराः । रसात्मकस्वसंयोगभावनिष्ठास्तन्मध्ये मद्गतेन अन्तरात्मना भावात्मकस्वरूपेण मम स्वशक्तिसंयोगेच्छारूपयोगेन मदर्थं श्रद्धावान् प्रेमयुक्तो यो मां भजते स मे मम युक्ततमः अत्यन्तं युक्तः प्रियो मतोऽभिमत इत्यर्थः । अतस्तथाभावेन त्वं योगी भवेति भावः ।।४७।।

दास्यात्मकस्वयोगेन भक्तिमार्गभ्रमं हि यः ।
नाशयामास पार्थस्य स मे कृष्णः प्रसीदतु ।।

इति श्री भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

इति श्री गीतामृततरंगिण्यां षष्ठोऽध्यायः ।।

योगी भी अनेक प्रकार के होते हैं अतः उनके बीच में दास्य धर्म से भजन करने वाला श्रेष्ठ है, अतः कहा है 'योगिनामपि ……' ।

योगी तीन प्रकार के होते हैं (१) योगाभ्यास से भगवान् के ध्यान में रहने वाले (२) भक्ति योग से साधन सेवन में परायण । (३) रसात्मक स्वसंयोग भाव से निष्ठ । इनमें से मेरी श्रद्धा से युक्त प्रेम युक्त होकर जो मेरा भजन करता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है । अतः इस भाव से तुम योगी बनो ।

मेरा योग अपनी शक्ति संयोग की इच्छा रूप योग से ही होता है ।।४७।।

दास्यात्मक स्वयोग से जिन्होंने पार्थ के भक्तिमार्ग के भ्रम को हटा दिया, वे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों ।

इस प्रकार श्री भगवद्गीता रूप उपनिषद् के ब्रह्मविद्या में योगशास्त्र सम्बन्धी श्रीकृष्णार्जुन संवाद का आत्मसंयम योग नाम का छठवां अध्याय तथा इस अध्याय की गीतामृत तरंगिणी नामक संस्कृत और श्रीधरी नामक हिन्दी टीका समाप्त ।।

॥ श्रीकृष्णायनमः ॥

सातवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

भगवद्योगयुक्तात्मा युक्तो रूपप्रबोधने ।
अतः पार्थाय श्रीकृष्णः स्वरूपज्ञानमुक्तवान् ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' इति योग सहित स्वभजनकर्तुरुत्तमत्वं स्वाभिमतत्वमुक्तं तत्र स्वरूपाज्ञाने भजनं न भवेत् तज्ज्ञानं च योगज्ञानोत्तरभावीति योगस्वरूपमुक्त्वा अथ भजनार्थं स्वरूपज्ञानमाह । श्री भगवानुवाच । मय्यासक्तमना इति । हे पार्थ एतच्छ्रवणयोग्य मदाश्रयः मदर्थमेवाऽनन्यशरणः सन् मत्क्रीडार्थं संयोगार्थमाश्रयं कृत्वा योगं युञ्जन् शास्त्राभ्यासं कुर्वन् असंशयं संशय रहितं यथा स्यात्तथा समग्रं संयोगात्मकसर्वरससहितं मां यथा ज्ञास्यसि तदिदमग्रे वक्ष्यमाणं ज्ञानस्वरूपं मय्यासक्तमनाः मयि आसक्तं स्वापेक्षारहितं मत्सुखाभिलाषिमनाः शृणु ॥१॥

जब अर्जुन भगवान् के योग से युक्त आत्मावाला, स्वरूप के बोध में युक्त हुआ तब भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वरूप ज्ञान का उपदेश दिया ।

पूर्व अध्याय के अन्त में यह लिखा है कि 'श्रद्धावान् भजनकर्त्ता मेरा उत्तम भक्त है' । आशय यह है कि योग सहित भजनकर्त्ता का उत्तमत्व सिद्ध किया है ।

भगवान् ने इस पर अपनी अभिमति भी प्रदान की है । स्वरूप के अज्ञान में भजन नहीं हो सकता और वह ज्ञान योगज्ञान से पूर्व होना आवश्यक है । अतः योग का स्वरूप बतलाकर भजनार्थ स्वरूप ज्ञान बतलाते हैं ।

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ ! ज्ञान श्रवण के अधिकारी मुझे ही सब कुछ मानकर मेरी क्रीड़ा के लिये आश्रय करके शास्त्र का अभ्यास करके संशयों को छोड़कर संयोगात्मक सर्व रस सहित मुझे जैसे जानोगे उसे मुझ में स्वापेक्षा रहित मन से मेरे सुख की अभिलाषा वाले होकर सुनो ॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वानेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

ननु योगस्वरूपनिरूपणे पूर्वमपि स्वरूपज्ञानमुक्तमेव पुनरेतज्ज्ञानं किं रूपमित्याशंक्याह । ज्ञानं तेऽहमिति । अहं पुरुषोत्तमः ते तव त्वदर्थं ज्ञानं शास्त्रोक्तप्रकारेण मत्स्वरूपविषयं अशेषतः सम्पूर्णं लीलादिसहितं वक्ष्यामि । कीदृशं तत् सविज्ञानं स्वरूपानुभवसहितम् । अनुभवस्वरूपमेवाह । इदमिति । अनुभूयमानस्वस्वरूपात्मकम् । एतज्ज्ञानानन्तरं पुनरन्यद्वक्तव्यं नास्तीत्याह । यदिति । यत् स्वरूपानुभवसहितं स्वस्वरूपं ज्ञात्वा इह अस्मिन्मद्भक्तिमार्गे भरतखण्डे अस्मिन्मनुष्यजन्मनि वा ज्ञातव्यं न अवशिष्यते । एतज्ज्ञानेनैव दास्यानुभवो भवतीत्यर्थः ॥२॥

यों तो योग स्वरूप के निरूपण में पहले भी स्वरूप ज्ञान तो बतला ही दिया था फिर इस ज्ञान का रूप क्या है इस आशंका से बतलाते हैं । मैं पुरुषोत्तम, तेरे लिये शास्त्रोक्त प्रकार से अपने स्वरूप विषय को लीला आदि के वर्णन के साथ समझाऊंगा । वह ज्ञान स्वरूपानुभव सहित है । अनुभव स्वरूप बतलाते है—'इदम्' पद से । इस ज्ञान के अनन्तर अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं है

स्वरूपानुभव सहित स्व स्वरूप जानकर इस मेरे भक्तिमार्ग में, भरत खण्ड में, इस मनुष्य जन्म में ज्ञातव्य कुछ नहीं है। इस ज्ञान से ही दास्यानुभव होता है ॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

ज्ञातव्यं कुतो नावशिष्यत इत्यत आह । मनुष्याणामिति । पूर्वं तु भगवत्सन्निधानान्निःसृतानां जीवानां मध्ये मनुष्यत्वं प्राप्तानामेव भजनाधिकारस्तत्प्राप्तिश्च दास्यदानानुग्रहैकसाध्या तत्प्राप्त्यनन्तरं च भावार्थं समर्पितस्य देहस्य तत्प्राप्त्यर्थं लीलया प्राकट्यमतिदुर्लभं तत्रापि भावसेवया प्रीतेन भगवद्दत्तस्वस्वरूपज्ञानमतिदुर्लभम् । एतत्सर्वं सिद्धिर्यज्ज्ञानेन भवति तज्ज्ञाने न किंचिदवशिष्यते । तदाह । मनुष्याणां सहस्रेषु भजनौपयिकप्राप्तदेहानां सहस्रेषु असंख्यातेषु कश्चित् दुर्लभो मदनुग्रहैकलभ्यः सिद्धये मत्सिद्धिस्वरूपनिमित्तं या सिद्धिर्द्वितीय स्कन्धे उक्ता तदर्थं यतति । यत्नवान् भवति । यततामपि यत्नं कुर्वतामपि सिद्धानां मध्ये कश्चित् स्वरमणेच्छादिभावरहितस्तत्स्वरूपात्मकधामरममाणं मां तत्त्वतस्तदनुग्रहैकलभ्यत्वेन वेत्ति जानाति । यत एतज्ज्ञानमतिदुर्लभम् । यज्ज्ञानानन्तरं न किंचिदवशिष्यते । तन्मया त्वदर्थमुच्यत इति भावः ॥३॥

ज्ञातव्य कुछ शेष नहीं है, अतः कहा है, 'मनुष्याणां' । पहले तो भगवत् सन्निधान से निःसृत जीवों के मध्य में मनुष्यत्व को प्राप्त व्यक्तियों को ही भजनाधिकार है और उसकी प्राप्ति भी है । दास्य दान अनुग्रह मात्र के द्वारा साध्य उसकी प्राप्ति के अनन्तर भावार्थ समर्पित देह की प्राप्ति के लिये लीला से प्राकट्य अतिदुर्लभ है, उसमें भी भाव सेवा से भगवद्दत्त स्व स्वरूप ज्ञान अति दुर्लभ है । यह सम्पूर्ण सिद्धि है । वह जिस ज्ञान से होती है उस ज्ञान में कुछ अवशिष्ट नहीं रहता । अतः कहा है 'मनुष्याणां ......' ।

असंख्यात भजन उपाय के लिये प्राप्त देह धारियों के मध्य कोई मेरे अनुग्रह को प्राप्त करने वाला ही मेरी सिद्धि स्वरूप के निमित्त यत्न करता है जो सिद्धि श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में कही है । यत्न करने वालों में भी सिद्धों के मध्य में कोई स्वरमण इच्छा आदि भाव से रहित स्वरूपात्मक धाम में रमण करने वाला मुझको मेरा अनुग्रह पाकर ही जानता है । क्योंकि यह ज्ञान अत्यन्त ही दुर्लभ है । जिस ज्ञान के पश्चात् कुछ शेष नहीं रहता वह मैं तेरे लिये कहता हूं ॥३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

एवं सावधानतया श्रोतव्यत्वेनार्जुनं बोधयित्वा पूर्वंप्रतिज्ञातस्वस्वरूपज्ञानार्थं स्वस्य सर्वकर्तृत्वं सर्वस्वरूपत्वं चाह भूमिराप इत्यादिभिः । भूमिः । आपः । अनलः । वायुः । खम् । एवं पंचमहाभूतानि । मनः संकल्पादिसाधनं । बुद्धिर्ज्ञानात्मिका । अहंकारोऽभिमानादिरूपः । इति अनेन प्रकारेण इयं मे अष्टधा प्रकृतिः माया भिन्ना विभागं प्राप्ता । लौकिककार्यार्थमिति भावः ॥४॥

इस प्रकार सावधानी पूर्वक सुनने वाले अर्जुन को समझाकर पूर्व प्रतिज्ञात अपने स्वरूप के ज्ञानार्थ अपनी सर्व समर्थता और स्वरूप बतलाते हैं 'भूमिः.......' ।

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश पंचमहाभूत, संकल्पादि का साधन मन, ज्ञानात्मिका बुद्धि, अभिमानादि रूप अहंकार ये मेरी आठ प्रकृति हैं अर्थात् माया है जो लौकिक कार्य करने के लिये विभाग को प्राप्त है ॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

तदेवाह अपरेति । इयं अपरा नीचेत्यर्थः । तु पुनः । हे महाबाहो ! क्रियासमर्थ ! एतज्ज्ञानयोग्य ! इतः सकाशादन्यां परां उत्कृष्टां जीवभूतां मे प्रकृतिं विद्धि जानीहि । परत्वमेवाह । ययेदमिति । यया इदं परिदृश्यमानं जगद्धार्यते ध्रियते पोष्यते च । अत्रायं भावः । भगवान् स्वक्रीडार्थं जगत् सृजति । तत्र प्रकृत्या स्वशक्त्या क्रीडाधिकरणभूतजगत्सृष्टिं विधाय तद्भोगार्थं क्रीडार्थकया स्वशक्त्या तद्रूपजीवसृष्टिं कृतवान् । तया इदं पूर्वं कृतं भोगादिरूपेण धार्यते । तस्माल्लौकिकसृष्टौ जीवरूपेण भगवान् भोगं कुर्वन् क्रीडतीति ज्ञानेन तस्यां बन्धो न स्यात् । एतत्स्वरूपज्ञानाद्रसानुकरणज्ञानं स्यादिति भावः । यद्वा या पूर्वमष्टधोक्ता सा अपरा प्रकृतिः शक्तिः । क्रीडार्थं शक्त्यंशभूतेति भावः । संयोगविलासे अनेकधारसोत्पत्त्यर्थमाविर्भूतेत्यर्थः । अतएव भिन्ना तद्विलासेच्छया जाता । इतः सकाशादन्या विप्रयोगे तदन्वेषणार्थं पुनर्दास्यरससिद्ध्यर्थमाविर्भूता जीवभूता दास्यरूपा या मच्छक्तिस्तां परां केवलमदंशां उत्कृष्टां जानीहि । उत्कृष्टरूपतामेवाह । यया इदं जडात्मकं जगद्धार्यते । जीवप्राकट्यानन्तरं तद्भावेन सर्वं क्रीडौपयिकत्वेन पोष्यत इति भावः ॥५॥

अपरा प्रकृति बतलाते हैं । हे महाबाहु ! क्रिया समर्थ ! इस ज्ञान के अधिकारी ! उत्कृष्ट जीवभूत मेरी प्रकृति को जानो । परत्व बतलाते हैं । जिसके द्वारा यह परिदृश्यमान जगत् धारण किया जाता है एवं पोषित है ।

भाव यह है कि भगवान् ने अपनी क्रीडा के लिये ही जगत् रचा है । इसमें स्वशक्ति से क्रीडा की आधारभूत जगत्-सृष्टि की रचना कर उसके भोग के लिये क्रीडा स्वरूपिणी अपनी शक्ति से तद्रूप जीवसृष्टि को किया । उसके ही द्वारा भोगादिरूप से पूर्वकृत को धारण किया जाता है । अतः लौकिक सृष्टि में भगवान् जीवात्मा के रूप में भोग करते हुए क्रीडा करते हैं, इस ज्ञान से उसमें बन्ध नहीं होगा । इस स्वरूप के ज्ञान से रसानुकरण ज्ञान हो, यह भाव है ।

अथवा जो आठ प्रकार की प्रकृति कही गई है, वह अपरा शक्ति है । क्रीडा के लिये शक्ति के अंश से उद्भूत है । संयोग विलास में अनेकधा रस की उत्पत्ति

के लिये वह आविर्भूता है । अतएव वह उसके विलास से उत्पन्न है । विप्रयोग पुनः दास्य रस की सिद्धि के लिये प्रकटित जीवभूता दास्यरूपा जो मेरी शक्ति है, उसे सर्वोत्कृष्ट शक्ति जानना चाहिये । उसकी उत्कृष्ट रूपता बतलाते हैं कि उसी शक्ति ने यह जडात्मक जगत् धारण किया है । जीव प्राकट्य के पश्चात् उसी भाव से सब जीवों का पोषण क्रीडा का साधन मात्र मानकर करती है ॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

एतज्ज्ञानेन किं स्यादित्यत आह एतदिति । सर्वाणि भूतानि स्थावरजंगमात्मकानि । एतद्योनीनि । एते प्रकृती योनी कारणरूपे येषां तथा तदुपधारय । उप समीपे हृदये धारय । एतद्योनित्वज्ञानेन मत्क्रीडौपयिकत्वं सर्वेषु भविष्यतीति भावः । यतस्तद्योनीनि सर्वाणि ते च मदंशे अतः कृत्स्नस्य सम्पूर्णस्य जगतोऽहं प्रभवः प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति प्रभव उत्पत्तिस्थानं मूलकारणमित्यर्थः । तथा प्रकर्षेण लीयते अनेनेति लयस्थानं प्रलयकर्ताप्यहमेवेत्यर्थः । यत उत्पत्तिप्रलयकारणमहमेव ॥६॥

इस ज्ञान से क्या होता है, यह बतलाता है 'एतद्........' ।

स्थावर और जंगमात्मक भूतों को कारण भूता शक्ति यही है । इसे समझो या हृदय में धारण करो । इस कारण ज्ञान से मेरी क्रीडा की उपयोगिता सब में हो जावेगी, यह भाव है । सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण मैं हूँ तथा प्रलय कर्ता भी मैं ही हूँ ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

अतः हे धनंजय ! मद्विभूतिरूप ! एतज्ज्ञानयोग्य । मत्तः परतरं श्रेष्ठं जगति वा किंचित् अहं न इति भेदेनापि अन्यन्नास्ति । एवमुत्पत्तिप्रलयकारणेन स्वत उत्तमत्वा भावमन्यस्योक्त्वा स्थितिहेतुत्वेनाऽपि तथात्वमेवेति स्वस्य स्थितिहेतुत्वमाह । मयीति । इदं सर्वं जगत् मयि प्रोतं ग्रथितं मदाश्रयत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह । सूत्रे प्रोता मणिगणा इव । अत्रायं भावः । मणिगणाः क्रीडास्थजीवाधिदैविकरूपा यथा मयि तिष्ठन्ति तथैवं जगदाधिदैविकं मयि तिष्ठतीति भावः ॥७॥

हे मेरी विभूति के रूप ! ज्ञानयोग्य धनंजय ! मुझ से परे इस जगत् में कुछ भी नहीं है । इस प्रकार अन्य किसी की अनुत्तमता को विज्ञापित कर स्थिति हेतु से भी अपनी स्थिति बतलाते हैं । यह सम्पूर्ण जगत् मुझ में ग्रथित है । अर्थात् मुझ में स्थित है । इसमें दृष्टान्त देते हैं । सूत्र में जिस प्रकार मणिगण ओत प्रोत रहते हैं । भाव यह है कि क्रीडा में स्थित जीव आधिदैविक रूप से जैसे मुझ में रहते हैं उसी प्रकार जगत् भी मुझ में आधिदैविक रूप से रहता है ॥७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

आधिदैविकरूपेण जगतः स्थितिं स्वस्मिन्नाह । रसोऽहमिति । पंचभिः । हे कौन्तेय ! मद्भक्त एतज्ज्ञानयोग्य अहं अप्सु जलेषु रसरूपः । जले शैत्याऽऽह्लादकानन्दादिगुणो मद्रूपस्थरसांशसम्बन्धादाविर्भवतीत्यर्थः । तथा शशिसूर्ययोः प्रभा प्रकाशकतेजोरूपोऽस्मि मद्रूपस्थसंयोगवियोगानन्दरूपतेजः सम्बन्धेनोभयोस्तद्रूपानन्दप्रकाशकत्वं भवतीति भावः । सर्ववेदेषु शब्दरसात्मके प्रणवे च ओंकारः त्रिरूपाक्षररूपोऽस्मि शक्तिद्वयसहितपुरुषरूपोऽस्मि । तत्सम्बन्धेनैव वेदशब्देषु रसरूपता अत एव श्रुतीनां भावोत्पत्तिः । खे आकाशे शब्दरूपोऽस्मि । अत्रायं भावः । आकाशस्वरूपात्मकभगवद्वेणुसम्बन्धेन शब्देष्वानन्दरूपत्वं भवति । नृषु मनुष्येषु पौरुषांशत्वं । पुरुषांशानामेव भजनयोग्यतेति तत्सम्बन्धेनैव सर्वमनुष्याणामुत्तमत्वमुच्यत इति भावः ॥८॥

अब आधिदैविकरूप से जगत् की स्थिति अपने में बतलाते हैं 'रसोऽहं.......' आदि पांच श्लोकों में ।

हे कौन्तेय ! मेरे भक्त अर्जुन या इस ज्ञान के अधिकारी ! मैं जलों में रस रूप हूं । अर्थात् जल में विद्यमान शैत्य आह्लादक आनन्दादि गुण मेरे रूप में स्थित रस के अंश के सम्बन्ध से ही आविर्भूत होते हैं । चन्द्रमा एवं सूर्य में प्रकाशक तेज रूप भी मैं हूं । भाव यह है कि मेरे रूप में स्थित संयोग वियोगानन्द रूप तेज के सम्बन्ध से दोनों में उनके रूप और आनन्द का प्रकाशकत्व है । चारों वेदों में शब्द रसात्मक प्रणव में (तीन अक्षर वाले ओंकार में) दो शक्तियों से युक्त पुरुष रूप हूं । उस सम्बन्ध से ही वेद शब्दों में रस रूपता है । अतएव श्रुतियों की भावोत्पत्ति है । आकाश में शब्द रूप हूं । भाव यह है कि आकाश स्वरूपात्मक भगवान् के वेणु सम्बन्ध से शब्दों में आनन्दरूपता आती है । मनुष्यों में पौरुष अंशता भी मैं हूं । पुरुष अंशों की ही भजन योग्यता होती है । उस सम्बन्ध से ही सब मनुष्यों में उत्तमत्व आता है ॥८॥

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

च पुनः पृथिव्यां पुण्यो गन्धोऽस्मि येन गन्धेन पुलिन्द्यादिषु भगवद्रसोत्पत्तिः स्यात् स पुण्यरूपोगन्धस्तत्सम्बन्धेन पृथिव्या गन्धवत्त्वं तद्द्वारेणात्रस्थामोदेनाऽऽह्लादकवृन्दावनाधारत्वादिकं चेति भावः । तथा विभावसौ अग्नौ यत्तेजस्तापकत्वं कान्तिस्तदहमस्मि । तत्रायं भावः । विप्रयोगतापकाग्नेर्ममांशसम्बन्धेनाग्नौ तापस्तेन सर्वपरिपाकं कृत्वा सर्वस्यान्नादेर्भोग्यतासम्पादकत्वं भवतीति भावः । सर्वभूतेषु जीवनं प्राणधारणं अन्यथा भगवद्वियुक्तानां तेषां तदाधारतां विना कथं स्थितिः स्यात् । तपस्विषु तापप्रयत्नयुक्तेषु तपः क्लेशानन्दरूपोऽस्मि । अन्यथा तदभावे सुखादित्यागेन दुःख को वा प्रवर्तेत ॥९॥

पृथिवी में मैं पुण्य गन्ध हूँ जिस गन्ध से भीतलिनियों में भी भगवद्रस की उत्पत्ति होती है। वह पुण्य गन्ध है। उस सम्बन्ध से ही पृथिवी को गन्धवती कहा गया है। इससे ही यहाँ का आमोद आह्लाद तथा वृन्दावन आधारत्व भी कहा गया है। अग्नि में ताप का तेज भी मैं हूँ। भाव यह है कि विप्रयोग तापरूप अग्नि में मेरे अंश सम्बन्ध से ही ताप है। इसी ताप से सम्पूर्ण अन्नादि को मेरे भोग योग्य बनाया जाता है। सम्पूर्ण जीवों में प्राणधारण तत्त्व मैं हूँ, अन्यथा भगवान् से वियुक्तों की उनके आधार के बिना स्थिति कैसे हो सकती है। तपस्वियों में क्लेशानन्द रूप तप मैं हूँ। यदि ऐसा न होता तो सुख को छोड़कर दुःख में प्रवृत्त ही कौन होता ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

किं च । बीजमिति । हे पार्थ मत्कृपाश्रय ! सर्वभूतानां सनातनं नित्यं बीजं मां विद्धि । अत्रायं भावः । पुरुषोत्तमलीलास्थजीवास्तदात्मका एव । तदंशा एवात्र प्रकटीकृताः । अन्यथा लीलोपयोगिनो न भवेयुस्तेन तद्बीजजाता एतेऽपि सेवायोग्या इति सर्वेषां बीजं मां विद्धि तज्ज्ञानं स्वरूपज्ञानप्रयोजकमितिभावः । तथैव बुद्धिमतां मत्स्वरूपज्ञानकुशलप्रयत्नवतां बुद्धिः कौशलमस्मि । तेजस्विनां दुराधर्षिणां तेजो दुराधर्षता अहमस्मि ॥१०॥

हे मेरी कृपा पर निर्भर ! समस्त भूतों में सनातन नित्य बीज मुझे जानो । भाव यह है कि पुरुषोत्तम की लीला में स्थित जीव उसके स्वरूप ही हैं । उनके अंश ही यहाँ प्रकट हैं । अन्यथा वे लीला के उपयुक्त कैसे माने जाते । अतः उनके बीज से उत्पन्न ये जीव भी सेवा योग्य हैं । उनका ज्ञान स्वरूप ज्ञान का प्रयोजक है । इसी प्रकार मेरे स्वरूप ज्ञान में कुशल बुद्धि अर्थात् कौशल मैं हूँ । दुराधर्ष तेज वालों में दुराधर्षता मैं हूँ ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

किं च बलवतां मद्वशीकरणलक्षणबलं अत्र वशीकरणलक्षणमहम् । च कारेण तद्रूपोऽपि । कीदृशं बलं कामरागविवर्जितं वशीकुरुते मयि स्वाभिलाषत्वं स्वरंजनादिवर्जनं किन्तु मदभिलाषादिभावः । तथा हे भरतर्षभ ! सत्कुलोत्पन्न तथा कामभावयोग्य ! धर्माविरुद्धः धर्मेण अविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि । अत्रायं भावः । लौकिककामस्तु धर्मविरुद्धोऽस्ति यतोऽयं रस स्वाऽविवाहितायामेव भवति प्रकटः सर्वधर्मविरुद्ध एव । अलौकिकस्तु रसात्मको धर्मरूप इति भावः ॥११॥

और मुझे वश में करने वाले बलशालियों में वशीकरण लक्षणवाला बल मैं हूँ । वह 'बल' काम राग से वर्जित होकर जब मुझे वश में कर लेता है तब स्वाभिलाषाओं की निवृत्ति भी कर देता है किन्तु मेरी ओर अभिलाषा बढ़ जाती है । हे सत्कुल में उत्पन्न अर्जुन ! तथा कामभाव के योग्य ! समस्त भूतों में धर्मानुकूल काम भी मैं हूँ । भाव यह है कि लौकिक काम तो धर्म विरुद्ध है क्योंकि यह रस तो अविवाहिता में ही प्रकट होता है और सब धर्मों से विरुद्ध कहा है । अलौकिक तो रसात्मक धर्म रूप ही है ॥११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

किं च । ये चैवेति । ये च पुनः सात्त्विका एव भावा मत्सम्बन्धिदर्शनेन रोमांचादयः । राजसात्मकविशेषादयः । च पुनस्तामसा विप्रयोगस्वरूपस्मरणे मूर्छाप्रमादयस्ते सर्वे एव । इति अमुना प्रकारेण तान् मत्त एव

अतः हे धनंजय ! मद्विभूतिरूप ! एतज्ज्ञानयोग्य । मत्तः परतरं श्रेष्ठं जगत् जगति वा किञ्चित् अहं स इति भेदेनापि अन्यन्नास्ति । एवमुत्पत्तिप्रलयकारणेन स्वत उत्तमत्वा भावमन्यस्योक्त्वा स्थितिहेतुत्वेनाऽपि तथात्वमेवेति स्वस्य स्थितिहेतुत्वमाह । मयीति । इदं सर्वं जगत् मयि प्रोतं ग्रथितं मदाश्रयत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह । सूत्रे प्रोता मणिगणा इव । अत्रायं भावः । मणिगणाः क्रीडास्थजीवाधिदैविकरूपा यथा मयि तिष्ठन्ति तथेदं जगदप्याधिदैविकं मयि तिष्ठतीति भावः ।।७।।

हे मेरी विभूति के रूप ! ज्ञानयोग्य धनंजय ! मुझ से परे इस जगत् में कुछ भी नहीं है । इस प्रकार अन्य किसी की अनुत्तमता को निरूपित कर स्थिति हेतु से भी अपनी स्थिति बतलाते हैं । यह सम्पूर्ण जगत् मुझ में ग्रथित है । अर्थात् मुझ में स्थित है । इसमें दृष्टान्त देते हैं । सूत्र में जिस प्रकार मणिगण ओत प्रोत रहते हैं । भाव यह है कि क्रीडा में स्थित जीव अधिदैविक रूप से जैसे मुझ में रहते हैं उसी प्रकार जगत् भी मुझ में आधिदैविक रूप से रहता है ।।७।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।८।।

आधिदैविकरूपेण जगतः स्थितिं स्वस्मिन्नाह । रसोऽहमिति । पंचभिः । हे कौन्तेय ! मद्भक्त एतज्ज्ञानयोग्य अहं अप्सु जलेषु रसरूपः । जले शैत्याह्लादकानन्दादिगुणो मद्रूपस्य रसांशसम्बन्धादाविर्भवतीत्यर्थः । तथा शशिसूर्ययोः प्रभा प्रकाशकतेजोरूपोऽस्मि मद्रूपस्य संयोगवियोगानन्दरूपतेजः सम्बन्धेनोभयोस्तद्रूपानन्दप्रकाशकत्वं भवतीति भावः । सर्ववेदेषु शब्दरसात्मके प्रणवे च ओंकारः त्रिरूपाक्षररूपोऽस्मि शक्तिद्वयसहितपुरुषरूपोऽस्मि । तत्सम्बन्धेनैव वेदशब्देषु रसरूपता अत एव श्रुतीनां भावोत्पत्तिः । खे आकाशे शब्दरूपोऽस्मि । अत्रायं भावः : आकाशस्वरूपात्मकभगवद्देशसम्बन्धेन शब्देष्वानन्दरूपत्वं भवति । नृषु मनुष्येषु पौरुषांशत्वं । पुरुषांशानामेव भजनयोग्यतेति तत्सम्बन्धेनैव सर्वमनुष्याणामुत्तमत्वमुच्यत इति भावः ।।८।।

राजस-तामस गुणात्मक भावों से दृश्यमान यह आध्यात्मिक जगत् पूर्वोक्त भावों से उत्कृष्ट है तथा वियोगादि भावों में भी न्यूनता आदि रहित है, इसे नहीं जानता है ।।१३।।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४।।

नन्वेवं चेदस्माभिः कथं ज्ञातव्य ? इत्याकांक्षायामाह दैवीति । एषा मम गुणमयी मद्गुणात्मिका दैवी केषुचिद्भाग्यवत्सु रसदानेच्छया प्रकटीकृतक्रीडात्मिका माया अलौकिकसामर्थ्येनान्यथाभावोत्पादनसमर्था । अतएव दुरत्यया दुःखेनापि जेतुमशक्या । एतादृशीमपि ये मामेव केवलमनन्यभावेन पुरुषोत्तमं प्रपद्यन्ते प्रपन्ना भवन्ति ते एतां मायां मोहनात्मिकां तरन्ति । मां जानन्तीत्यर्थः । 'मामेव ये' इत्यत्रैवकारेण मामित्येकवचनेन च भावात्मकतया केवलं पुरुषोत्तमत्वेन स्वभजनं दास्यभावेनोक्तं न तु लीलादिसहितदर्शनेन स्वरमणेच्छादिकतया । एतेन त्वमपि तथा प्रपन्नो भवेत्युक्तम् ।।१४।।

यदि ऐसा है तो हम कैसे जानें, इस आकांक्षा में बतलाते हैं—मेरी माया गुणमयी है अर्थात् मद्गुणात्मिका है । यह किन्हीं किन्हीं भाग्यवानों को रसदान की इच्छा से प्रकट की गई है । क्रीडात्मिका है । अलौकिक सामर्थ्य से अन्यथा भावों को उत्पन्न करने में समर्थ है । अतएव इसे दुःख पूर्वक भी जीता नहीं जा सकता । ऐसी दुरत्यय माया को वही पारकर जाते है जो अनन्य भाव से मुझ पुरुषोत्तम को जानते हैं । 'मामेव' पद में 'एव' तथा 'माम्' शब्द के एक वचन प्रयोग से यह ध्वनित है कि पुरुषोत्तम का भजन दास्य भाव से हो, लीला आदि सहित दर्शन के साथ नहीं । इससे यह भी अर्थ निकलता है कि तुम भी उसी प्रकार मेरे बनो ।।१४।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।१५।।

नन्वेवं सति कथं न सर्वे प्रपन्ना भवन्तीत्याह । न मामिति । मां दुष्कृतिनो दुष्टकर्मकर्त्तारः पापा मूढाः पशुवद्विवेकरहिताः नराधमाः नरेषु अधमाः केवलं वैचित्र्यार्थं जगत्पूरणार्थं सृष्टाः मां न प्रपद्यन्ते । ननूपदेशादिना कथं न पापकर्मादित्यागेन प्रपद्यन्त ? इत्यत आह । माययेति । मायया अपहृतं गुरूपदेशादिजनितं ज्ञानं येषां । माययेति पदेन ज्ञाननाशनसामर्थ्यमुक्तम् । अतएव देवी पुराणे 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा । बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'त्युक्तम् । ननु भगवत्प्रपत्तीच्छूनां कथं न भगवान् रक्षतीत्यत आह । आसुरं भावमाश्रिताः । मद्विरोध्यासुरसंगेन तद्भावं प्राप्ताः । अतो मया न रक्ष्यन्त इति भावः । एतेन दुःसंग राहित्येन प्रपत्तिः कार्येत्युपदिष्टम् । अतएव दुःसंगनिषेधः श्री भागवते । 'न तथाऽस्य भवेन्मोह' । 'संगस्तेष्वपि ते प्रार्थ्यः' इत्यादिभिरुक्तः ।।१५।।

शंका—यदि ऐसा ही उचित है तो सब लोग प्रपन्न क्यों नहीं होते ? समाधान करते हुए कहते हैं कि मुझे दुष्ट कर्म करने वाले पापी, पशु की तरह विवेक रहित नरों में अधम जो कि केवल जगत् सृष्टि की विचित्रता के लिये ही उत्पन्न किये हैं, मुझे प्राप्त नहीं करते ।

यहां यह भी शंका होती है कि उपदेश सुनकर भी पाप कर्मों को छोड़कर वे शरण में क्यों नहीं आते ? भगवान् कहते हैं कि उनको उपदेश मिलता ही नहीं क्योंकि गुरु आदि के उपदेशों का अपहरण माया कर डालती है । माया पद से ज्ञान नाशन की सामर्थ्य भी कही गई है । देवी पुराण में लिखा भी है कि भगवती देवी, ज्ञानियों के चित्तों को भी खींच कर मोह को समर्पित कर देती है ।

शंका—भगवान् की शरण में आये हुए व्यक्तियों की रक्षा का भार तो भगवान् पर है, अतः उन्हें रक्षा करनी चाहिये ।

समाधान करते हुए कहते हैं कि वे मेरा विरोधकर आसुर भाव को प्राप्त हो गये हैं अतः मेरे द्वारा वे रक्षित नहीं हैं । इससे भगवान् ने यह बतलाया कि दुःसंग का परित्याग कर ही प्रपत्ति करनी चाहिये । दुःसंग का निषेध श्रीमद्भागवत में भी—'न तथास्य भवेन्मोहः' द्वारा कहा है ।।१५।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ।।१६।।

एवं दुष्टकर्मकर्त्तारो न भजन्तीत्युक्तं तर्हि के भजन्तीत्याकांक्षायामाह । चतुर्विधा इति । हे अर्जुन ! सावधानतया श्रोतव्यत्वेन संबोध्य ! सुकृतिनः पूर्वजन्मसंचितपुण्यराशयो जनाः मां भजन्ति । अन्यथा भजने प्रवृत्तिरेव न स्यात् । अतएव नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत इति श्रीभागवत उक्तम् । ते च चतुर्विधाः । चतुर्विधत्वं प्रकटयति आर्त इति । आर्तः संसारक्लेशादियुक्तः । तन्निवृत्त्यर्थं धर्मरूपेण मां भजति । जिज्ञासुः कामात्मक मत्स्वरूपज्ञानेच्छुः कामरूपेण मां भजति । अर्थार्थी मत्सेवौपयिक साधनसंपत्त्यर्थरूपेण मां भजति । च पुनः । ज्ञानी शास्त्रार्थज्ञानवान् मोक्षरूपेण मां भजति । भरतर्षभेति सम्बोधनं सत्कुलोत्पन्नानामेव भजनप्रवृत्तिर्भवतीति ज्ञापनार्थम् ।।१६।।

दुष्ट कर्म करने वाले भजन नहीं करते यह बतलाकर भजने वालों की संख्या बतलाते हैं । हे अर्जुन ! यह सम्बोधन सावधानी पूर्वक श्रवणार्थ है । पूर्व जन्म संचित पुण्य राशि वाले जन मेरा भजन करते हैं, अन्यथा भजन में प्रवृत्ति ही नहीं होती । अतएव भागवत में लिखा है कि क्षीण पाप राशि वाले मनुष्यों की भक्ति भगवान् कृष्ण में होती है । ऐसे भक्त चार प्रकार के हैं :—

(१) आर्त—जो संसार के क्लेशों से युक्त हैं । उनकी निवृत्ति के लिये धर्म रूप से मेरा भजन करते हैं । (२) जिज्ञासु—कामात्मक मेरे स्वरूप को जानने की इच्छा वाले काम रूप से मेरा भजन करते हैं । (३) अर्थार्थी—मेरी सेवा के लिये उपयुक्त साधन सम्पत्ति के अर्थ रूप से मुझे भजते हैं । (४) ज्ञानी—शास्त्रार्थ ज्ञाता मोक्षरूप से मुझे भजते हैं । भरतर्षभ ! यह सम्बोधन इस बात को ज्ञापित करता है कि सत्कुलोत्पन्न व्यक्ति की ही भजन में प्रवृत्ति होती है ।।१६।।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

एवं चतुर्विधानुक्त्वैतेषु ज्ञानी मोक्षार्थं भजनकर्त्ता उत्तम इत्याह । तेषामिति । तेषां पूर्वोक्तचतुर्विधानां मध्ये ज्ञानी नित्ययुक्तो नित्यं मया युक्त इत्यर्थः । एतेभ्यश्चतुर्विधेभ्योऽपि एकभक्तिरनन्यत्वेनैकान्तभजनकृत् दासवत् स विशिष्यते उत्तमत्वेनेत्यर्थः तस्य विशेष्यधर्ममाह । प्रिय इति । हीति निश्चयेन ज्ञानिनः सकाशात् अत्यर्थं सर्वभावेन अहमेव तस्य प्रियः । अतएव श्रीभागवते भगवद्वाक्यं 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'ति ॥१७॥

पूर्वोक्त चारों भक्तों में ज्ञानी श्रेष्ठ है । वह मुझ से नित्य युक्त है । ज्ञानी भक्त अनन्य है, अतः एकान्त भजनशील होने के कारण वह सर्व श्रेष्ठ है । ज्ञानी को सर्वतोभावेन मैं ही प्रिय हूँ । अतएव भागवत में कहा भी है, 'मदन्यत् ते न जानन्ति' ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

नन्वेषु चतुर्विधेषु ज्ञानी उत्तम उक्तस्ततोऽपि भक्तस्तदा पूर्वोक्तानां किं फलमित्यपेक्षायामाह । उदारा इति । एते सर्व एव स्वार्थपरित्यागेन मदर्थधर्मादित्रयभजनकर्त्तारः उदाराः मोक्षाधिकारिणः । तु पुनः । ज्ञानी आत्मैव मदात्मक एव मुक्त एवेत्यर्थं इति मे मतम् । हीति निश्चयेन अनन्यमनसा सर्वत्यागेन । अनुत्तमां, न विद्यते उत्तमा यस्यास्तादृशीं गतिं प्राप्य स्थानं ज्ञात्वा मामेवास्थितः स युक्तात्मा मत्संयोगयुक्तो दास्यादिभावेनेत्यर्थः । स उत्तम इति भावः ॥१८॥

पूर्व श्लोक में ज्ञानी की श्रेष्ठता और भक्त की उससे भी अधिक श्रेष्ठता बतलाई है । तब पूर्वोक्त अन्य भक्तों को किस फल की उपलब्धि होती है ? भगवान् कहते हैं कि स्वार्थ परित्याग पूर्वक धर्म अर्थ काम पूर्वक भजन करने वाले उदार हैं अर्थात् मोक्ष के अधिकारी हैं । किन्तु ज्ञानी भक्त तो मेरी ही आत्मा है, ऐसा मेरा मत है । निश्चय ही सब को परित्याग कर सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त कर स्थान को जानकर मुझ में ही स्थित होता है । मेरे संयोग से युक्त होकर दास्यादि भाव से वह युक्तात्मा कहा जाता है और वही उत्तम है ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवःसर्वमिति स महात्मा सुदुर्ल्लभः ॥१९॥

ये पूर्वोक्तास्ते कथं मोक्षमनुभवन्तीत्याकांक्षामाह । बहूनामिति । बहूनां जन्मनां धर्मादित्रययुक्तानां अन्ते अन्तिमजन्मनि ज्ञानवान् भवति । ततो मां प्रपद्यते मुक्तो भवतीत्यर्थः । यस्तु भक्त उक्तः स तु दुर्लभ इत्याह । वासुदेव इति । सर्वमैहिकं परलौकिकं च वासुदेवः स महात्मा महान् मदर्थमेव अहमेव वा आत्मा तादृशः स दुर्लभाऽप्राप्य इत्यर्थः । यद्वा । दुःखेन क्लेशेन भगवानिव लभ्य इति भावः ॥१९॥

पूर्वोक्तों की मोक्ष बतलाते हैं । धर्मादि त्रय जन्म के पश्चात् अन्तिम जन्म में वह ज्ञानवान् होता है और तब मुझे प्राप्त कर मुक्त होता है । जिसे भक्त संज्ञा दी है वह तो दुर्लभ है । वह तो इस लोक और परलोक के बीच मेरी ही आत्मा वाला है, अतः उसकी प्राप्ति कठिन है । अथवा दुःख से जैसे भगवान् मिलते हैं ऐसे ही उसकी प्राप्ति भी दुःख से होती है ॥१९॥

कामैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

स कथं दुर्लभ इत्यत आह। कामैरिति। तैस्तैः कामैः पूर्वोक्तैरार्त्त्यादित्रिरूपैर्हृतज्ञानाः सन्तोऽन्यदेवताः क्षुद्राः शिवादयो भूतप्रेतादयश्च स्वया प्रकृत्या कृत्वा तं तं नियमं देवताराधने उपवासादिलक्षणमास्थाय प्रपद्यन्ते। अत्रायमर्थः। कामनार्थं मत्सेवायां प्रवृत्ता न तु मोक्षार्थं भक्त्यर्थं वा। अहं तु मोक्ष भक्त्यननुरूपं कामितफलं न ददामि तदा तत्फलमननुभूय तैः कामैः हृतं मत्स्वरूपज्ञानं येषां तादृशाः सन्तः स्वया प्रकृत्या नियताः प्रकृत्यंशत्वाच्छीघ्रं तत्फलदा अन्य देवता भजन्ति। अतएव 'यो यदंशः स तं भजेदित्युक्तम्' ॥२०॥

उस भक्त की दुर्लभता बतलाते हैं। आर्त जिज्ञासु आदि रूपों से ज्ञान अपहृतवाला, क्षुद्र जो शिव—भूत प्रेत आदि देवगण, उनकी आराधना, उनका उपवास आदि करने वाला मुझे प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह कामना पूर्वक मेरी सेवा में प्रवृत्त होता है, मोक्ष प्राप्ति या भक्ति के लिये नहीं। मैं तो मोक्ष—भक्ति के प्रतिकूल फल नहीं देता। तब उस फल को न भोगकर उन-उन कामों से मेरे स्वरूप का ज्ञान उसके हृदय से नष्ट हो जाता है तथा अपनी प्रकृति से नियत होकर शीघ्र फल दान करने वाले अन्य देवगणों का भजन करने लगता है। अतएव कहा है कि जो जिसका अंश है, वह उसको भजे ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

अतोऽपि तान् स्वरूपरसदानायोग्यांस्तद्देवता भजते दृढान् करोमीत्याह। यो य इति। यो यो भक्तो यां यां तनुं यां यां देवतामूर्तिं श्रद्धया स्वकामसिद्ध्यर्थं शुद्धान्तःकरणेन अर्चितुमिच्छति तस्य भक्तस्य तामेव श्रद्धामचलां शास्त्रज्ञानादिना वा चालयितुमयोग्यामहमेव विदधामि करोमि पोषयामि चेत्यर्थः ॥२१॥

मैं भी उन्हें स्वरूप रसदान का अपात्र समझकर उन देवताओं के भजन में दृढ़ बना देता हूँ। जो भक्त जिस देवता की मूर्ति को श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, अपनी कामना की सिद्धि चाहता है, उस भक्त की शास्त्र, ज्ञान आदि द्वारा अस्थिर श्रद्धा को मैं ही दृढ़ करता हूँ ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥२२॥

ततः स मत्कृतश्रद्धया तस्याऽऽराधनं करोतीत्याह। स तयेति। स तया मत्कृतया श्रद्धया युक्तस्तस्या मूर्तेराराधनमीहते करोति। ततः श्रद्धातः स्वशुद्धान्तःकरणतस्तान् स्वमनोरथरूपान् कामान् मयैवविहितान् निर्मितान् अन्यथा मदाज्ञां विना देवादीनां न सामर्थ्यमतो मयैव निश्चयेन विहितांल्लभते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२२॥

तब वह मेरे द्वारा प्रदत्त श्रद्धा से उसका आराधन करता है। श्रद्धापूर्वक ही वह अपने शुद्ध अन्तःकरण से अपने अनेक मनोरथ रूप कामों को जो मेरे ही द्वारा निर्मित हैं, प्राप्त करता है। मेरी आज्ञा के बिना देवों की भी सामर्थ्य नहीं है, अतः मेरे द्वारा प्रदत्त काम ही वह प्राप्त करता है ॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

तर्हि त्वन्निर्मित फलाऽऽप्त्या चोत्तमत्वमेव तत्फलस्य कथं नेत्यत आह। अन्तवदित्विति। तु पुनः मन्निर्मितमपि फलं तेषां अल्पमतिमतां भक्तिं विहाय कामपरत्वात्। अन्तवत् विनाशयुक्तं भवतीत्यर्थः। तच्छब्देन तद् बुद्ध्यनुसारेण मया तत्फलं विधीयत इति व्यज्यते। ननु देवा अपि त्वदंशास्तद्भजने कथं नोत्तमफलमित्यत आह। देवानिति। देवयजः पूर्वोक्त प्रकारेण

स्वकामितफलाप्त्यर्थं देवभजनकर्त्तारः। अथवा देवत्वेन तद्भजनकर्त्तारो न तु मदंशत्वेन स्फुरितसन्माना अतो देवान् यान्ति। मत्सायुज्यकामाभावे प्राप्नुवन्ति। कामनायां तु तदेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। अन्यदेवेषु देवत्वेन भजनकर्त्तारस्तत्सायुज्यमेव प्राप्नुवन्ति कामनायां तु तदपि न प्राप्नुवन्त्यतः कामनयापि मद्भजनमुत्तममित्याह। मद्भक्ता इति। मद् भक्ताः मद्भजन-कर्त्तारो मामपि यान्ति। कामनयापि प्रवृत्ताः पूर्वोक्त प्रकारेण अतएव 'उदाराः सर्व एवैत' इति पूर्वमुक्तम्। मामपि प्राप्नुवन्ति। अतोऽग्रे तेषां मोक्षः। अक्षरसायुज्यमपि प्राप्नुवन्ति। अतएव हरिवंशे—

अपत्यं द्रविणं दारा हर्म्यं हारा हया गजाः।
सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे हरिभक्तितः॥

इति। इदमेवापि शब्दे व्यज्यते ॥२३॥

शंका—यदि आप ही फल दाता हैं तो वह फल ही उत्तम क्यों नहीं माना जाता। अतः उत्तर देते हैं—फल यद्यपि मेरे द्वारा ही निर्मित है तथापि अल्पबुद्धि वालों को वह विनाश युक्त होता है क्योंकि वे भक्ति-शून्य होते हैं। तत् शब्द का अर्थ है कि उसकी बुद्धि के अनुसार मेरे द्वारा ही फल का विधान किया जाता है। यह व्यङ्ग्य है। यदि यह शंका हो कि देवगण भी तो भगवान् के अंश हैं अतः उनके भजन से उत्तम फल क्यों नहीं होता, तो कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से देवों की पूजा करनेवाले अथवा देवत्व से ही उनके भजन को करने वाले (वे मेरे अंश के कारण नहीं) देवों का भजन करते हैं। उन्हें मेरे सायुज्य की कामना नहीं होती। अन्य देवों में देवत्व से भजन करनेवाले उसकी सायुज्य को ही प्राप्त करते हैं। कामना में तो वह भी प्राप्त नहीं होती। अतः मेरा भजन कामना से भी बढ़कर है। मेरे भक्त, भजन करने वाले मुझे प्राप्त करते हैं। भले ही वे कामना से ही प्रवृत्त क्यों न हों। अतएव 'उदाराः सर्व एवैते' लिखा गया है। मुझे प्राप्त करते हैं और आगे मोक्ष भी प्राप्त करते हैं अर्थात् अक्षर सायुज्य भी प्राप्त करते हैं। हरिवंश पुराण में लिखा भी है कि पुत्रादि संतति, धन, स्त्री, हारादि अलंकार, भवन, घोड़े, हाथी, सुख, स्वर्ग, मोक्ष हरि भक्ति से दूर नहीं है। यह अपि शब्द से व्यक्त है ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो मामव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

तर्हि कथं न सर्वे त्वामेव भजन्तीत्यत आह। अव्यक्तमिति। अबुद्धयः कामहृतज्ञाना अव्यक्तं न विद्यते व्यक्तो लौकिकवत् प्रकटो व्यवहारो यस्य व्यक्तिजात्यादिर्वा यस्य तादृशं पुरुषोत्तमं व्यक्तिमापन्नं मनुष्यादिभावेन जगति प्रकटं लौकिकत्वेन अन्यदेवसमं मनुष्यादि समं वा मन्यन्ते। कुत इत्याकांक्षायामाह। परमिति। मम पुरुषोत्तमस्य अव्ययं नाशरहितं लीलात्मकं केषुचिद् भाग्यवत्सु प्रकटीभूय तद्रसपोषणार्थं तत्समानाकारेण लीलारूपं अजानन्तः। किंच। अनुत्तमं न विद्यते उत्तमो यस्मात्तादृशं परंभावं पुरुषोत्तमात्मकं अजानन्तो मां तथा मन्यन्ते। अतः स्वकामितफलक्षिप्रसादार्थंमन्यदेवता एव भजन्ति न तु मामित्यर्थः ॥२४॥

शंका—तब सब जीव आपका ही भजन क्यों नहीं करते? इसका उत्तर है, काम के द्वारा अपहृत बुद्धिवाले लौकिकवत् प्रकट व्यवहार से परे भी पुरुषोत्तम को मनुष्यादि भाव से व्यक्त मानकर अन्य लौकिक देवों की या मनुष्यों की भांति ही मानते हैं क्योंकि वे मुझ पुरुषोत्तम की नाशरहित लीला को किन्हीं भाग्यशालियों में प्रकट होकर उनके रस पोषणार्थ समानाकार से लीला रूप को नहीं जानते हैं। कारण यह है कि वे मुझे परं भाव पुरुषोत्तमत्व रूप में नहीं जान पाते। अतः अपनी कामना सिद्धि के लिये अन्य देवों का ही भजन करते हैं। मुझे नहीं भजते ॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

ननु मनुष्या विवेकादिसहिताः कथं न त्वां जानन्तीत्यत आह । नाहमिति । अहं सर्वस्य साधारणस्य प्रकाशः प्रकटो न भवामि किन्तु कस्यचिद्भक्तस्यैव । तत्र हेतुमाह । योगमायासमावृत इति । योगार्थमेव या माया अन्तरंगा दासीभूता शक्तिस्तया आवृतो रसार्थमाच्छन्नः । अतो मूढो भक्त्यालोचनादिज्ञानशून्योऽयं परिदृश्यमानो मां पश्यन्नपि स्वरूपज्ञानरहितो लोकबहिर्दृष्टिर्मामजं जन्मरहितं लीलया प्रकटमव्ययं नित्यं नाभिजानाति अभितः सर्वभावेन न जानाति ।।२५।।

शंका—मनुष्यों को तो विवेक मिला है अतः वे आपको क्यों नहीं जानते ? उत्तर में कहते हैं—मैं सर्व साधारण को प्रकट नहीं होता, किसी भक्त में ही प्रकाश होता है। क्योंकि योग के लिये जो माया है अर्थात् मेरी अन्तरङ्ग दासी भूत शक्ति है उससे मैं रस प्रदान करने के लिये ढंका रहता हूँ। अतः भक्ति की चक्षु से रहित व्यक्ति देखता हुआ भी स्वरूप ज्ञान से रहित होकर जन्म रहित लीला मात्र को अवतरित होने वाले नित्य विद्यमान मुझको सर्वतोभाव से नहीं जानता ।।२५।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।२६।।

ननु यांस्त्वं स्वसेवार्थं प्रकटीकृतान् पुनः स्वकीयत्वेन न जानासि तदा माया तान् व्यामोहयत्युतान्यथा वेत्स्याशंक्याह । वेदाहमिति । अहं समतीतानि सेवामकृत्वा नष्टानि वर्त्तमानानि सांप्रतं सेवां कुर्वाणानि भविष्याणि सेवार्थं प्रकटानि यानिभूतानि मत्सत्तया प्रकटानि स्थावरजंगमानि त्रिकालवर्त्तीनि मदीयत्वेन अहं वेद जानामि । तु पुनः मज्ज्ञानानन्तरमपि कश्चन त्रिकालवर्तिषु मां प्रभुत्वेन न वेद । न जानातीत्यर्थः ।।२६।।

शंका—जिन जीवों को आपने अपनी सेवा के लिये प्रकट किया है फिर

उन्हें आप क्यों नहीं जानते ? क्या इस परिस्थिति में ही माया उन्हें आवृत कर लेती है। या अन्य प्रकार से, मैं उन्हें भी जानता हूँ जो सेवा न करके नष्ट हो गये तथा जो वर्तमान में कर रहे हैं तथा जो भविष्य में सेवा के लिये जन्म ग्रहण करेंगे। वे मेरी सत्ता के द्वारा प्रकट हुए हैं, मेरे ही हैं, अतः मैं उन्हें जानता हूँ, किन्तु मेरे ज्ञान के अतिरिक्त वे मेरे त्रिकालवर्ती प्रभुत्व को नहीं जानते ।।२६।।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ।।२७।।

तर्हि त्वज्ज्ञाने तान् माया कथं मोहयतीत्यत आह । इच्छेति । सर्गे-सृष्टावुत्पत्त्यनन्तरं इच्छा स्वेष्टवस्तुषु, द्वेषस्तद्विपरीतवस्तुषु ताभ्यां सम्यक् प्रकारेणोत्थितो यो द्वन्द्वमोहः सुखदुःखरूपस्तेन हे भारत ! भक्तवंशज ! सर्वभूतानि संमोहं यान्ति प्राप्नुवन्ति । भारतेतिसंबोधनेन भारतवत् कस्यचिदेव भक्तस्य न मोहो भवतीति व्यंजितम् । अत्रायं भावः । मत्क्रीडार्थं सेवार्थं वा ये सृष्टास्तैर्मत्संयोगवियोगसुखदुःखविचार एव कर्त्तव्यो न तु स्वस्वविचारकाणां भगवत्कार्यानुपयुक्तत्वान्मायामोहयतीति भावः ।।२७।।

तुम्हारे ज्ञान में उन्हें माया कैसे मोहित करती है। सृष्टि में जन्मग्रहण के पश्चात् इष्ट पदार्थ में इच्छा, अनिष्ट पदार्थ से द्वेष, इनमें रहने वाला सुख-दुःख रूप द्वन्द्व, मोह, उससे जीव संमोह को प्राप्त हो जाता है। भारत सम्बोधन का आशय है कि राजा भरत की भाँति किसी-किसी को मोह नहीं होता। भाव यह है कि मेरी सेवा के लिये जो उत्पन्न किये हैं वे मेरे संयोग-वियोग सुख-दुःख विचार को कर सकते हैं। अपने-अपने विचार से नहीं। जो भगवत् कार्य में अनुपयुक्त होते हैं उन्हीं को माया मोहित कर लेती है ।।२७।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।२८।।

ननु ये मोहयुक्तास्तन्मध्ये तत्संगिन एव केचन पूर्वमभजन्तः पश्चात् त्वद्भजनप्रवृत्ताः कथं भवन्तीत्यत आह । येषामिति । येषां दुर्लभानां भाग्यवतां पुण्यकर्मणां मद्दर्शनादिना पुण्याचरणशीलानां महत्सु विनयादियुक्तानाम् । तु पुनः । जनादिक्लेशयुक्तानां पापं मत्स्वरूपज्ञानप्रतिबन्धकं अन्तभावं गतं प्राप्तं नष्टमिति यावत् । ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः स्वसुखदुःखादि मोहनिर्मुक्ताः दृढव्रताः दृढसंकल्पाः मदेकनिष्ठाः मां भजन्ते । अत्रायं भावः । पूर्वजन्मकृतं यत्किञ्चित् पुण्यकर्म तेन जन्मान्तरे प्रवृद्धमाने वाऽनेकजन्मनि वयसः परिपाके पुण्योपचितमरणभयेन तन्निवृत्त्यर्थं मद्भजनप्रवृत्ता भवन्ति । अतएव-

'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णेभक्तिः प्रजायते ॥'

इति भागवतैरुक्तम् ॥२८॥

शंका—जो मोह से युक्त हैं उनके मध्य में उनके संगी ही पहले तो भजन नहीं करते, पश्चात् तुम्हारे भजन में प्रवृत्त होकर कैसे भजन करते हैं । इस पर कहा है—मेरे दर्शन से पुण्य संचय करने वाले बड़े लोगों में विनय रखने वाले अविद्या, अस्मिता आदि पांच क्लेश मेरे स्वरूप ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं, ऐसा जानने वाले द्वन्द्व अर्थात् सुख-दुःख से रहित होकर दृढ़ संकल्प वाले केवल मेरा ही भजन करते हैं । भाव यह है कि पूर्व जन्मकृत पुण्यकर्म से जन्मान्तर में या अवस्था के परिपाक में पुण्योपचित मरण भय से उसकी निवृत्ति के लिये मेरे भजन में प्रवृत्त होते हैं । अतएव ऐसा लिखा भी है कि हजारों जन्म में तपस्या, ज्ञान और समाधि के अनुष्ठान से क्षीण पाप होने पर ही कृष्ण भगवान् में भक्ति उत्पन्न होती है । ऐसा भागवतों ने कहा है ॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

एवं भजनप्रवृत्ता मां जानन्तीत्याह जरामरणेति । जरामरणयोः भगवद्भजनप्रतिबन्धकभगवद्विस्मरणरूपयोर्मोक्षाय निवारणार्थं मामाश्रित्य अनन्यैकचित्तेन ये यतन्ति भजनार्थं यत्नं कुर्वन्ति भजन्ति वा ते तत् परं ब्रह्म पुरुषोत्तमात्मकं विदुः जानन्ति । कृत्स्नं पूर्णमध्यात्मं भजनौपयिकं साधनरूपं विदुः । च पुनः । कर्म सेवारूपं तत्साधनात्मकमखिलं भावादियुक्तं जानन्तीत्यर्थः ॥२९॥

इस प्रकार मेरे भजन में प्रवृत्त मुझे जानते हैं । वे जरा—वृद्धावस्था तथा मरण को भी भगवद्भजन में बाधक मानकर उनके निवारण के लिये अनन्य मन से मेरा आश्रय ग्रहण कर भजन में प्रवृत्त होते हैं और वे ही पुरुषोत्तमात्मक परं ब्रह्म को जानते हैं । वे सम्पूर्ण रूप में भजन के उपाय को भी जानते हैं और सेवा रूप कर्म के साधन को भी समस्त भावों युक्त जानते हैं ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञंच ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

एवं ज्ञानस्य फलमाह । साधिभूताधिदैवमिति । साधिभूताधिदैवम् अधिभूतेन अधिकरणात्मकेन अधिदैवेन मूलरूपेण सह अधियज्ञेन अंशात्मककर्मरूपेण च सहितं ये मां विदुस्ते युक्तचेतसः युक्तं तन्निष्ठं चेतो येषां तादृशा भवन्ति मां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । च पुनः । प्रयाणकाले मरणसमयेऽपि भ्रमादिरहितास्ते मां विदुः जानन्ति मरणकाले स्वज्ञानोक्त्या 'अन्ते या मतिः सा गतिरि'ति वाक्योक्तरीत्या प्राप्नुवन्तीति व्यंजितम् ॥३०॥

भक्तानामेव श्रीकृष्णज्ञानविज्ञानयोग्यता ।
अतोऽत्र ज्ञानविज्ञानयोगं हरिरुवाच हि ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मय्यासक्त योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरंगिण्यां सप्तमोऽध्याय ॥७॥

ज्ञान का फल बतलाते हैं। अधिकरणात्मक मूलरूप के साथ अंशात्मक कर्म रूप सहित जो मुझे जानते हैं वे युक्तचेता मुझे प्राप्त करते हैं। मरण समय में भी भ्रमादि से रहित होकर अन्त में 'जैसी मति वैसी गति' इस उक्ति के अनुसार मुझे प्राप्त करते हैं ॥३०॥

श्रीकृष्ण के ज्ञान विज्ञान की योग्यता भक्तों को ही होती है, अतः भगवान् ने इस अध्याय में ज्ञान विज्ञान की योग्यता का निरूपण किया है।

इति श्रीभगवद्गीता उपनिषद् के ब्रह्म विद्या विषयक योगशास्त्र में मय्यासक्तयोग नाम का सातवां अध्याय उसकी अमृततरंगिणी संस्कृत तथा श्रीवरी हिन्दी टीका समाप्त ॥

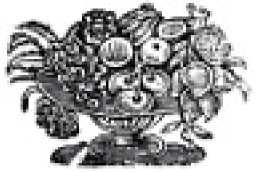

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

आठवां अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोसि नियतात्मभिः ॥२॥

पूर्वोक्तब्रह्मकर्मादिरूपजिज्ञासुरर्जुनः ।
पृष्टवान् स्पष्टमेतस्य कृष्ण उत्तरमुक्तवान् ॥

पूर्वाध्यायान्ते भगवता 'ते ब्रह्म'इत्यादिना समपदार्थज्ञानमुक्तं भक्तानाम्। तत्स्वरूपजिज्ञासुरर्जुनः प्रभुं विज्ञापयामास। अर्जुन उवाच। किं तद्ब्रह्मेति। द्वयेन। हे पुरुषोत्तम ! तद्ब्रह्म यदुक्तं तत्किम् ? अध्यात्मं किं कर्म ? च पुनः। अधिभूतं किं प्रोक्तं ? च पुनः। अधिदैवं किमुच्यते ? अधियज्ञः यज्ञाधिष्ठाता फलदाता कः ? अत्र उक्तप्रकारेषु कथम् ? केन प्रकारेण ? नियतात्मभिरनन्यैकपरचित्तैर्ज्ञेयोऽसि। हे मधुसूदन ! सर्वानिष्टनिवर्त्तक ! अस्मिन् देहे प्रयाणकाले अन्तकाले कथम् ? केन प्रकारेण ? ज्ञेयोसि। अत्रायं भावः। पुरुषोत्तमेति सम्बोधनेन त्वमेव पुरुषोत्तमः त्वत्तः पराभावात् कथं तद्ब्रह्मेत्युक्तम् ? आधिदैविकं तु त्वत्स्वरूपमेवातस्त्वत्तो-

ऽप्याधिदैवं किम् । अध्यात्मादयस्तु हीना एव तेषां ज्ञानं किं प्रयोजनकम् । सेवा च कथं कार्येत्यादि व्यंजितम् । मधुसूदनेति सम्बोधनेन त्वदीयानां मरणादिभयाभावे तत्समये त्वं कथं स्वज्ञानमुक्तवानितिज्ञापितमितिभाव: ॥१,२॥

पूर्वोक्त ब्रह्मकर्मादि रूप के जानने की इच्छावाले अर्जुन को उत्तर देते हुए भगवान् ने स्पष्ट रूप से कहा । इससे पूर्व अध्याय के अन्त में 'ते ब्रह्म' श्लोक द्वारा भक्तों के अपदार्थ ज्ञान की बात कही ।

उस स्वरूप के जिज्ञासु अर्जुन ने पूछा—हे पुरुषोत्तम ! जिस ब्रह्म को आपने बतलाया वह कौन है ? अध्यात्म कैसा कर्म है ? अधिभूत क्या है, तथा अधिदैव किसे कहते हैं ? यज्ञ का अधिष्ठाता फलदाता कौन है ? नियतात्मा लोगों के बुद्धि गम्य किस प्रकार बनते हो । हे सम्पूर्ण अनिष्टों के निवारण करने वाले ! इस देह से मृत्युकाल में किस प्रकार जाने जाते हो । भाव यह है कि पुरुषोत्तम सम्बोधन से सबसे बड़ा पुरुषोत्तम ही हुआ । तब ब्रह्म कौन है ? ऐसा प्रश्न किया है । आधिदैविक तो उसका स्वरूप ही है अत: तुम से बढ़कर आधिदैव भी क्या होगा ? अध्यात्म आदि तो हीन हैं उनका यहाँ प्रयोजन ही क्या है ? इससे यह स्पष्ट है कि सेवा भी कैसे होगी । मधुसूदन सम्बोधन से ध्वनित है कि जो आपके हैं उन्हें मरणादि भय होता ही नहीं । उस समय आप अपना ज्ञान कैसे व्यक्त करते हैं ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्ग: कर्मसंज्ञित: ॥३॥

एतत्प्रश्नोत्तरं साभिप्रायज्ञानार्थं श्रीभगवानुवाच । अक्षरमितित्रयेण । न क्षरति न चलतीत्यक्षरं सदैकरसरूपं पुरुषोत्तमचरणात्मकं भक्तहृदयादचलं गृहात्मकं वा स्थिरं सत् । परमं पर: पुरुषोत्तमो मीयते अस्मिन्निति परमं बृहत्वाद्बृहत् व्यापकं च । स्वभाव: स्वस्य भगवतो दास्यादिसेवासिद्ध्यर्थं जीवरूपेण भवनम् । अध्यात्मं आत्मानमविकृतं सेवायोग्य देहमधिकृत्य तदनुभवे वर्तमानो जीवभावोऽध्यात्मशब्देनोच्यत इत्यर्थ: । भूतानां जीवानां भावस्य भगवद्रसरूपस्योद्भवकर: प्रकटकारको यो विसर्गो भगवदर्थद्रव्यादिविनियोगेन सेवारूप: स कर्मसंज्ञित: क्रियारूप: कर्मशब्दवाच्य इत्यर्थ: ॥३॥

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने साढ़े तीन श्लोकों से दिया है । जो सदा एक रस रहता है वह अक्षर है । वह अक्षर पुरुषोत्तम का चरणात्मक है । भक्त के हृदय से वह कभी चलायमान नहीं होता । परम पर अर्थात् पुरुषोत्तम जिसमें मापा जाय वह परम है और व्यापक होने से ही उसे ब्रह्म कहा गया है । भगवान् की दास्यादि सेवा सिद्धि के लिये जीव रूप से वह उत्पन्न होता है । सेवा योग्य देह को प्राप्त कर उसके अनुभव में वर्तमान जीव भाव ही अध्यात्म शब्द से कहा गया है । जीवात्माओं को भगवत् रस को प्रकट करने वाला जो विसर्ग है अर्थात् भगवान् के निमित्त द्रव्यादि का विनियोग है वह क्रिया रूप होता हुआ भी कर्म शब्द के द्वारा वाच्य है ॥३॥

अधिभूतं क्षरो भाव: पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥४॥

एवं ब्रह्माध्यात्मकर्मोत्तराण्युक्त्वाऽधिभूताद्युत्तराण्याह । अधिभूतमिति । क्षरोभावो विनश्वरो देहो भगवद्विप्रयोगतापाधिक्येन नाशभावयुक्तो ऽधिभूतं जीवमात्रमधिकृत्य भवतीति अधिभूतं दास्यार्थमाविर्भावितस्वांशे विप्रयोगतापार्थं प्रकटीक्रियत इति तयोच्यत इतिभाव: किंच । हे देहभृतां वर ! मत्सेवौपयिक सामर्थ्ययुक्त ! अत्र जगति देहे देहनिमित्तं सेवौपयिकोपचयार्थम् अधियज्ञ: यज्ञादिकर्मात्मकस्तत्प्रवर्तकश्चेत्यर्थ: ॥४॥

ब्रह्म अध्यात्म और कर्म का उत्तर देकर अधिभूत का उत्तर देते हैं ।

भगवान् के वियोग जनित ताप से विनश्वर देह नाश भाव युक्त हो जाता है और वह जीवमात्र को अधिकार करके होता है। अतः अधिभूत कहा गया है, दास्य के लिये प्रकटित अपने अंश में वियोगताप के लिये ही वह प्रकट किया गया है। इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—पुरुष मेरे जीव के हृदय में पुरुषत्व से रसात्मक भाव से है। वही अधिदैव है। उस क्रीड़ात्मक भाव को अधिकार कर होता है। वह सब मूल में स्पष्ट है। हे देहधारियों में श्रेष्ठ! मेरी सेवा के उपयुक्त सामर्थ्यशील! इस जगत् में देह के निमित्त सेवा के उपयुक्त अधियज्ञ अर्थात् यज्ञात्मक कर्म और उसका प्रवर्तक मैं ही हूँ ॥४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वाकलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोसीत्यस्योत्तरमाह अन्तकाल इति। अन्तकाले एतद्देहावसानसमये वा अन्तरूपस्य अन्तिमजन्मनो देहस्य काले नाशसमये प्राप्ते सति मामेव स्मरन् यः प्रयाति देहं मुंचति स कलेवरं मृतदेहं भजनायोग्यं मुक्त्वा मद्भावं सेवौपयिकस्वरूपं याति प्राप्नोति। अत्रार्थे संशयो नास्ति न वर्तते। अतः संदेहो न कर्त्तव्य इत्यर्थः। चकारेण शुद्धावस्थादिकं न विचारणीयमिति ज्ञापितम् ॥५॥

प्रयाण काल में कैसे पहचाने जाते हो इसका उत्तर देते हैं। इस देह के अवसान के समय अथवा अन्तिम जन्म के देह के नाश के समय मुझे स्मरण करता हुआ जो देह त्याग करता है वह भजन के अयोग्य शरीर को त्यागकर मेरे भाव को प्राप्त करता है, अर्थात् सेवा के उपयुक्त शरीर को प्राप्त कर लेता है। इस अर्थ में कुछ भी संशय नहीं है। अतः तुम्हें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिये। चकार से शुद्धावस्था आदि का विचार भी अनावश्यक है। 'एव' पद से यह भी ध्वनित है कि कामना द्वारा अन्य कुछ भी स्मरण करने योग्य नहीं है ॥५॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अन्याऽस्मरणे हेतुमाह यं यमिति। हे कौन्तेय! तत्स्मरणायोग्य! यं यं देवतान्तरमपि वा स्वमनोभिलषितजीवस्वरूपं स्मरन् अन्ते कलेवरं त्यजति स तमेव तत्सारूप्यमेति प्राप्नोतीत्यर्थः। अपीति निश्चयार्थे वा। अतएव भरतस्य अन्ते मृगस्मरणे मृगशरीराप्तिः। अयमेवार्थोऽपिशब्देन द्योतितः। यतोऽन्तकाले यत्स्मरणेन म्रियते तमेव प्राप्नोत्यतः साधारण्येनापि मत्स्मरणेन मरणे मत्प्राप्तौ न सन्देह इत्यर्थः। नन्वन्ते वैकल्ये देवतान्तरस्मरणं स्वाभिलषितस्मरणं वा कथं स्यादित्यत आह। सदा तद्भावभावितः। निरन्तरं तद्भावेन भावितो यो भवति स तमेवान्ते स्मरति ॥६॥

अन्य के स्मरण न करने पर हेतु बतलाते हैं—हे कौन्तेय! अर्थात् उसके स्मरण के अयोग्य! जिस-जिस देव को या स्वमनोऽभिलषित जीव स्वरूप को स्मरण करता हुआ जो जीव शरीर त्यागता है उस सारूप्य को वह प्राप्त हो जाता है। अपि अर्थात् यह बात निश्चय ही है। इस नियम के अनुसार ही भरत को मृग शरीर का स्मरण करने पर मृग शरीर प्राप्त हुआ था साधारणतः मेरा स्मरण कर मरने वाला निस्सन्देह मुझे प्राप्त होता है। यदि यह शंका हो कि अन्त समय में तो इन्द्रियों में विकलता होती है, अतः देवतान्तर का स्मरण अपने अभीष्ट का स्मरण कैसे होता है? तो कहते हैं कि—उसके भाव से भावित होकर, अर्थात् निरन्तर जो जिसका स्मरण करता रहता है, उसे ही अन्त में वह स्मरण करता है ॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्य संशयम् ॥७॥

अतः सदा त्वं मद्भावयुक्तो भवेत्याह तस्मादिति । तस्मात् पूर्वोक्तात् कारणात् सर्वेषु कालेषु लौकिकवैदिकक्रियायोग्येषु मय्यर्पितं मनश्चाञ्चल्यदोषनिवारणार्थं बुद्धिरन्यत्र व्यवसायदोषनिवारणार्थं येन तादृशः सन् मामनुस्मर चिन्तय । अनुस्मरणेन मया कृपया सर्वदा त्वं स्मर्यसे तस्मात्सर्वदा मत्स्मरणफलरूपं भविष्यतीति भावो व्यंजितः । युद्ध्य च युध्यस्व सद्भावतया मदाज्ञया युद्धमपि कुर्वित्यर्थः । एवमनुस्मरणेन असंशयः सन्देहरहितः सन् मामेव एष्यसीत्यर्थः । असंशयः अत्र च संदेहो नास्तीति भावः ।।७।।

अतः सदा तुम मेरा आश्रय लेने वाले बनो । लौकिक या वैदिक क्रियाओं द्वारा किसी भी काल में हो, मन की चंचलता को हटा कर अपनी बुद्धि से मेरा ही चिन्तन करो । अनुस्मरण से मेरी कृपा मिलेगी । उससे सदा मेरा स्मरण करोगे । अतः मेरे स्मरण का फल की प्राप्ति ही होगी यह भाव है । मेरी आज्ञा से युद्ध भी करो । इस प्रकार निःसन्देह मुझे ही प्राप्त करोगे ।।७।।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८।।

अथ तव तु मत्प्राप्तिर्निःसन्दिग्धा साक्षान्मयोपदिष्टत्वात् किन्तु मदाज्ञाव्यतिरेकेणापि येऽनन्यभावेन स्मरन्ति तेऽपि मां प्राप्नुवन्तीत्याह । अभ्यासेति । हे पार्थ ! मद्भक्त ! अभ्यासो भगवत्संगानुशीलनं स एव योग उपायस्तद्युक्तेन नान्यगामिना अन्यत्रोत्तमत्वज्ञानजचाञ्चल्यदोषरहितेन चेतसा दिव्यं क्रीडात्मकं परमं पुरुषं पुरुषोत्तमभावं निर्जितचेतसा अनुचिन्तयन् भगवत्कृतस्मरणानन्तरं चिन्तयन् स्मरन् हे पार्थ ! तमेव याति प्राप्नोतीत्यर्थः । पार्थेतिसम्बोधनेन पृथासम्बन्धान्मत्कृतस्मरणानन्तरस्मरणेन यथा त्वं मामाप्नोषीति बोध्यते ।।८।।

भगवान् कहते हैं कि तुझे तो मेरी प्राप्ति निश्चित ही होगी क्योंकि मैंने ही

तुझे उपदेश दिया है, किन्तु मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले भी यदि मेरा अनन्यभाव से स्मरण करते हैं तो मुझे प्राप्त करते हैं । हे पार्थ ! मेरे भक्त ! भगवान् के संग का अनुशीलन करते हुए चांचल्य दोष को त्यागकर क्रीडात्मक पुरुषोत्तम भाव को भगवत्कृत स्मरण के अनन्तर चिन्तन करते हुए उसी को प्राप्त हो जाओगे । पृथा से सम्बन्ध के कारण पार्थ यह सम्बोधन है ।।८।।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्यधातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।९

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।१०।।

चिन्तनीयस्वरूपधर्मानाह द्वाभ्याम् । कविमिति । कविं शब्दार्थरसिकं स्वगुणानुवर्णनश्रवणानन्दसूचितानुग्रहं । पुराणं अनादिसिद्धं सर्वदैकरसम् । अनुशासितारं भावादिधर्मनियन्तारम् । अणोरणीयांसम् अणोः सूक्ष्मात् अणीयांसं सूक्ष्मम् । अयं भावः । सूक्ष्माज्जीवात् सूक्ष्मं जीवभावभावनयोग्यस्वरूपप्राकट्यं न तद्हृदि बहिस्तद्दृष्टयादिस्थितियोग्यं । सर्वस्य स्वक्रीडायोग्यस्य भावादिरूपाक्षरादिरूपपदार्थस्य धातारं पोषकम् अचिन्त्यरूपं अलौकिकक्रीडाद्यपरिमेयमहिमानम् । आदित्यवर्णं रसात्मकतापतेजसा सर्वप्रकाशकम् । तमसः परस्तात् प्रकृतेः परस्ताद्वर्त्तमानम् । अत्रायं भावः । भावात्मकप्राकट्यभक्तस्वरूपं प्रकटितलीलास्वरूपात् सर्वदा रसात्मकत्वेन वर्तमानमेवं पुरुषं पुरुषोत्तमम् । प्रयाणकाले अन्तकाले मनसा निश्चलेन मनसा सर्वकामरहितेन ।

च पुनः । ;योगबलेनैव संयोगात्मकभावेनैव भ्रुवोर्मध्ये भाग्यस्थाने सन्तं विद्यमानं योऽनुस्मरेद्भगवत्कृतस्मरणानन्तरं स्वार्थप्रकटज्ञानेन स्मरेत् स तस्मिन्नेव प्राणमावेश्य सम्यक् भावात्मकस्वरूपप्राप्त्या परं पुरुषं पुरुषोत्तमं दिव्यं क्रीडात्मकं उपैति समीपे दास्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥९-१०॥

चिन्तनीय स्वरूप के धर्मों को बतलाते हैं—कवि=शब्दार्थ रसिक, पुराणम्=अनादि सिद्ध सर्वदा एक रस रहने वाले, अनुशासितारं=भावादि धर्मों के नियन्ता, अणोरणीयांसम्=सूक्ष्मातिसूक्ष्म (अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भाव की भावनायोग्य स्वक्रीडा स्वरूप प्रकट द्वारा हृदय में बाहर की दृष्टि आदि से स्थिति के योग्य) योग्य, भावादि रूप—अक्षरादि रूप पदार्थ के धारक पोषक, अचिन्त्य रूप वाले, अलौकिक क्रीडा आदि अपरिमित महिमावाले आदित्यवर्णं=रसात्मक ताप तेज से सबको प्रकाशित करने वाले तमसः परस्तात्=प्रकृति से परे वर्तमान। भाव यह है कि भावात्मक प्राप्त भक्तस्वरूप, प्रकटित लीला स्वरूप के सर्वदा रसात्मक होने से, वर्तमान पुरुषोत्तम को प्रयाण समय में निश्चल मन से सब कामनाओं का परित्याग करके योग बल द्वारा संयोगात्मक भाव से ही भ्रुकुटि मध्य में भाग्यस्थान पर जो स्मरण करते हैं, भगवद् कृत स्मरण के अनन्तर स्वार्थ प्रकट ज्ञान द्वारा जो स्मरण कहते हैं, वे उसमें ही अपने प्राणों को लगाकर सम्यक भावात्मक स्वरूप की प्राप्ति से परम पुरुष पुरुषोत्तम के दिव्य क्रीडात्मक स्वरूप का सामीप्य—उनका दासत्व प्राप्त करते हैं ॥९-१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११

ननु भक्तियुक्ता अपि तदेव प्राप्नुवन्ति योगयुक्ता अपि च। तदा तयोः को विशेष ? इत्याकांक्षायां तयोः प्राप्यरूपमाह। यदक्षरमिति। वेदविदो वेदान्तज्ञा यत् अक्षरं वदन्ति। यत् वीतरागा विरागिणो यतयः सर्वत्यागादिप्रयत्नवन्तो विशन्ति यत्रैक्यं प्राप्नुवन्ति। यदिच्छन्तो यत्स्वरूपज्ञानेन प्राप्तीच्छवः ब्रह्मचर्यमिन्द्रियनिग्रहं गुरुकुले चरन्ति तत्पदं तेषां प्राप्यं ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ज्ञानार्थं प्रवक्ष्ये कथयिष्यामीत्यर्थः ॥११॥

शंका—भक्ति-युक्त और योग-युक्त दोनों को जब उसकी प्राप्ति है तो इनमें विशेष कौन है ? अतः दोनों का स्वरूप बतलाते हैं। वेदान्त जानने वाले जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग वैराग्यवान् जिसमें ऐक्य प्राप्त करते हैं, जिसको स्वरूप ज्ञान से चाहने वाले गुरुकुल में ब्रह्मचर्य धारण करते हैं उनके द्वारा प्राप्त तत्त्व संक्षेप से कहता हूँ ॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

प्रतिज्ञातस्वरूपमाह द्वाभ्याम्। सर्वद्वाराणीति। सर्वाणि इन्द्रियद्वाराणि संयम्य वशीकृत्य लौकिकविषयान्मनो निरुन्धनं कृत्वा मनश्च विकल्पादिधर्मं त्यागेन हृदि निरुध्य मूर्ध्नि भ्रुवोर्मध्ये भाग्यस्थाने प्राणमाधाय आत्मनो योगधारणां आस्थित आश्रितः सन् ॥१२॥

दो श्लोकों से प्रतिज्ञात स्वरूप बतलाते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रिय द्वारों को वश में करके लौकिक विषयों से मन को हटाकर तथा विकल्पादि धर्म के परित्याग से मन को हृदय में रोक कर भ्रुकुटियों के मध्य प्राण चढ़ाकर योग धारण करके ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

ओमित्येकाक्षरं शक्तिद्वयसंबद्धपुरुषवद्वर्णत्रयात्मकमेकं यदक्षरं ब्रह्मवाचकत्वात्तत्स्वरूपत्वाद्वा ब्रह्मात्मकं व्याहरन्नुच्चारयन्मामेवं रूपं प्रकटमनुस्मरन् यो देहं त्यजन् प्रयाति प्रकर्षेण भावात्मतया गच्छति स परमां परो मीयते यया यत्र वा तां गतिं अक्षरात्मिकां याति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१३॥

ओम् इस एकाक्षर को बोलकर—ओम् में तीन अक्षर उसी प्रकार हैं जिस प्रकार दो शक्तियों से सम्बद्ध पुरुष है। यही ओंकार ब्रह्म का वाचक है अथवा तत्स्वरूप है। ब्रह्मात्मक है। इसका उच्चारण कर मेरे रूप का स्मरण करता हुआ जो देह का परित्याग करता है, वह अक्षरात्मिका परमागति को प्राप्त करता है ॥१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

एवं योगयुक्तानां स्वांशाक्षरात्मकगतिस्वरूपमुक्त्वा भक्तियुक्तस्य स्वप्राप्तिमाह । अनन्य इति । सततं निरन्तरमव्यवच्छिन्नतया न अन्यस्मिल्लौकिकालौकिकविषये चेतो यस्य तादृशो यो मां नित्यशः प्रत्यहं स्मरति तस्य नित्ययुक्तस्य मम नित्यं संगतस्य योगिनः तत्कालादहं सुलभः सुखेन लभ्यः प्राप्यः । पार्थेति सम्बोधनेन यथा स्वमातुः स्मरणबलेन तव सुलभो जातस्तथेति व्यंजितम् ॥१४॥

इस प्रकार योगयुक्तों को भगवान् के अंश अक्षर की गति प्राप्त होती है। उसे बतलाकर भक्तियुक्त को अपनी प्राप्ति बतलाते हैं।

जिसका चित्त लौकिक-अलौकिक विषयों में कभी नहीं रमता, ऐसा व्यक्ति यदि मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है तो उसे मैं अतिशीघ्र प्राप्त हो जाता हूँ। पार्थ सम्बोधन से यह स्पष्ट किया है कि जैसे तुम्हारी माता के स्मरण से तुम्हें मैं सुलभ हो गया ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मनः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

नन्वेवमेव तत्तद्देवोपासकास्तत्तत्सायुज्यं प्राप्नुवन्तीति तत्तच्छास्त्रेषु निगद्यत इति भवत्प्राप्तौ को विशेष ? इत्याकांक्षायां स्वप्राप्तेर्विशेषमाह । मामुपेत्येति । महात्मनो महात्मका भक्ता परमां संसिद्धिं भावरूपां गताः सन्तो मामेकं पुरुषोत्तमं उपेत्य समीपे प्राप्य पुनः दुःखालयं संसारात्मकं अशाश्वतमनित्यं लौकिकं जन्म न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥१५॥

शंका—यदि ऐसा ही है तो तत्तद् देवों की उपासना करनेवाले उन देवों को सायुज्य गति प्राप्त कर ही लेंगे। तब फिर आपकी प्राप्ति में विशेषता क्या है ? अब भगवान् अपनी प्राप्ति की विशेषता बतलाते हैं—भक्त भावरूपता को प्राप्त कर एक मुख्य पुरुषोत्तम को पाकर पुनः दुःख परिपूर्ण संसारात्मक इस अशाश्वत अनित्य लौकिक जन्म को प्राप्त नहीं करते ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अथान्येषां पुनर्जन्म भवतीत्यर्थः । आब्रह्मेति । आब्रह्मभवनाद् ब्रह्मभवनमभिव्याप्य सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनः सर्वे पुनर्जन्मभाजो भवन्ति । मां तु उपेत्य कौन्तेय ! परमस्निग्ध ! परं जन्म न विद्यते न स्यादित्यर्थः । तु शब्देन मन्मार्गे प्रवृत्तस्य इत एव शंका न भवतीति ज्ञापितम् ॥१६॥

अन्य जीवों का तो पुनर्जन्म है, ब्रह्मा के भवन से लेकर समस्त लोक पुनर्जन्म के भाजन हैं। हे परमस्निग्ध ! मुझे प्राप्त कर पुनर्जन्म नहीं होता। तु शब्द से मेरे मार्ग में प्रवृत्त को शंका ही नहीं है ॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

ननु ब्रह्मलोकगतास्तेन सह मुच्यन्ते ,'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इत्यादिभ्यस्तेऽपि पुनरावृत्तिरहिता भवन्त्येवेत्याशंक्य तेषां तदभावमाह। सहस्रेति। सहस्रयुगपर्यन्तं चतुर्युगसहस्रं पर्यन्तोऽवसानं यस्य तद् ब्रह्मणो यदहर्दिनं तद्ये विदुर्जानन्ति युगसहस्रान्तां चतुर्युगसहस्रं अन्तो यस्यास्तादृशीं रात्रिं ये विदुस्ते अहोरात्रविदः। तत्र कालगणने मनुष्याणां यद्वर्षं तद्देवानामहोरात्रस्तादृगहोरात्रगणितद्वादशवर्षसहस्रेण चतुर्युगं तच्च तद् ब्रह्मणो दिनं तावत्येव रात्रिस्तद्गणनक्रमेण वर्षशतं तद् ब्रह्मणः परमायुरित्युच्यते तदवसाने तत्सहितमुक्तानामक्षरप्राप्तिः परंपरया भवति ॥१७॥

ब्रह्मलोक गये हुए उसी के साथ मुक्त हो जाते हैं। लिखा भी है कि 'ब्रह्म के साथ मुक्त हो जाते हैं।' इत्यादि से पुनरावृत्ति रहित हो जाते हैं। उनका अभाव बतलाते हैं। सहस्र चतुर्युगी तक ब्रह्मा का दिन है। इसे जानने वाले अहोरात्र विद् कहलाते हैं। काल गणना में मनुष्यों का जो वर्ष है, वही देवों का अहोरात्र है। ऐसे द्वादश वर्ष सहस्र से चतुर्युग होता है। वह ब्रह्मा का दिन है और इतनी ही रात्रि होती है। इस गणना के क्रम से जब सौ वर्ष हो जाते हैं तब ब्रह्मा की परमायु होती है। इस परमायु के पूर्ण होने पर ब्रह्मा के साथ ही मुक्तों की अक्षर प्राप्ति परम्परा से होती है ॥१७॥

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

पुनस्तदक्षरसमये तत्सहितानामागमनमित्याह। अव्यक्तादिति। अव्यक्तादक्षराद्भगवच्चरणरूपाद् व्यक्तयः स्थावरजंगमादयः सर्वाः देवादिकीटतृणान्ताः। अहरागमे ब्रह्मदिनोद्गमे प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते। तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके अक्षरे रात्र्यागमे रात्र्युद्गमे प्रलीयन्ते लीना भवन्तीति तद्विदो जनास्तत्र प्रविशन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

उसकी उत्पत्ति के समय उसके सहित आगमन का प्रयोजन बतलाते हैं। अक्षर = अर्थात् भगवच्चरण रूप से व्यक्ति स्थावर जंगम आदि समस्त देव-कीट-तृण आदि ब्रह्मा के उद्गम के दिन ही उत्पन्न होते हैं। अव्यक्त संज्ञक अक्षर में रात्रि के आगम में लीन हो जाते हैं और उसके जानने वाले उसमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

तत्र प्रलीनाश्च पुनरुत्पद्यन्त इत्याह। भूतग्राम इति। स एव पूर्वोक्त एवायं परिदृश्यमानो मत्सम्बन्धरहितो भूतग्रामश्चराचरसमूहो भूत्वा उत्पद्योत्पद्य रात्र्यागमे दिवसावसाने अवशः परवशः सन् प्रलीयते। हे पार्थेति। सावधानः शृण्वित्यर्थः, तथैव अहरागमे दिनागमेऽवश एव प्रभवति उत्पद्यत इत्यर्थः ॥१९॥

प्रलीन हुए पुनः उत्पन्न होते हैं अतः कहते हैं—वही परिदृश्यमान मेरे सम्बन्ध से रहित भूतग्राम चराचर समूह बार-बार उत्पन्न होकर दिन की समाप्ति पर परवश होकर प्रलीन हो जाते हैं। हे पार्थ ! अर्थात् सावधान होकर सुन। दिन के आगमन पर परवश होकर ही वे उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

एवं तेषां पुनरुद्गममुक्त्वा स्वप्राप्तौ तदभावाय स्वस्थानस्वरूपमाह।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

नन्वितो गता य आवर्तन्ते निवर्तन्ते वा ये तेऽत्र कथं ज्ञेया ? इत्याशंक्याह । यत्रेति । यत्र काले यस्मिन् काले प्रयाता योगिनः अनावृत्तिं यान्ति प्राप्नुवन्ति । च पुनः । यस्मिन् काले प्रयाता आवृत्तिमेव प्राप्नुवन्ति । हे भरतर्षभ ! ज्ञान योग्य कुलोत्पन्न ! तं कालं वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः ॥२३॥

शंका—यहाँ से जो गये हैं, वे आते हैं, जाते हैं यह कैसे जाना जाय ? जिस काल में गये हुए योगी अनावृत्ति को प्राप्त करते हैं, कुछ गये हुए आवृत्ति को प्राप्त करते हैं । हे भरतर्षभ ! ज्ञान योग्य कुल में उत्पन्न ! उस काल को बतलाता हूँ । अनावृत्ति ज्ञापक काल स्वरूप बतलाते हैं ॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

तत्र पूर्वमनावृत्तिज्ञापककालस्वरूपमाह । अग्निरिति । अग्निर्ज्योतिः तापयुक्तं ज्योतिर्युक्तः । अहः दिवसः । शुक्लः शुक्लपक्षः । षण्मासा उत्तरायणं प्राप्य भवन्ति । तत्र तस्मिन् काले प्रयाता ब्रह्मविदो जना भक्ताः । ब्रह्म भगवत्स्वरूपमनावृत्त्यात्मकं गच्छन्ति । अत्रायं भावः । आयुर्भोगपूर्णतया कालवशेनोत्तरायणादिविशिष्टकालमृताः सर्व एव न तत् प्राप्नुवन्ति । किन्तु भगवद्भक्ता भीष्मवत् तत्काल आगते भगवन्निष्ठैकतया ये प्राणांस्त्यक्त्वा यातास्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एतज्ज्ञापनार्थंव ब्रह्मविद् इत्युक्तम् । एतदेव तज्ज्ञापकमित्यर्थः ॥२४॥

ताप ज्योति से युक्त दिन शुक्लपक्ष उत्तरायण को प्राप्त कर होते हैं । उस

काल में गये हुए ब्रह्मवेत्ता जन भगवत्स्वरूप को—अनावृत्ति स्वरूप को जाते हैं । भाव यह है कि भोग पूर्ण होने के कारण कालवश से उत्तरायण विशिष्ट काल में मृत हुए सब उसे प्राप्त नहीं करते । किन्तु भगवान् के भक्त भीष्म पितामह की तरह उस काल के आने पर भगवन्निष्ठा से युक्त होने के कारण प्राणों को त्यागकर जो चले गये वे उन्हें प्राप्त करते हैं । इसे बतलाने के लिये ही ब्रह्मवित् कहा है ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

आवृत्तिकालरूपमाह । धूम इति धूमस्तापकत्वाभ्यात्मकप्रतिबन्धरूपः रात्रिर्निशा कृष्णः पक्षः एवं षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र योगी सकामः प्रयातः सन् चान्द्रमसं स्वर्गादिसुखं शीतलात्मकं प्राप्य सुखभोगं कृत्वा निवर्तते पुनर्जन्म प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२५॥

आवृत्तिकाल निरूपण—तापरूप अन्धात्मक प्रतिबन्धरूप धूम तथा रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छः मास इनमें सकाम योगी पहुँचता है तथा स्वर्गादि शीतल सुख प्राप्त कर पुनर्जन्म को प्राप्त कर लेता है ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ॥२६॥

एवं कालस्वरूपद्वयमुक्त्वोपसंहरति । शुक्ल इति । शुक्लकृष्णे पूर्वोक्ता शुक्ला इतरा कृष्णा एते गती ज्ञानप्रकाशकत्वमनात्मके जगतस्तत्तदधिकारिणः शाश्वते सनातने अनादी मते सम्मत इत्यर्थः । एकया पूर्वोक्तया अनावृत्तिं याति अन्यया कृष्णया पुनः वर्तते आवर्तते । अनेन प्रकारेण गमनादिना स्वरूपमात्रं च ज्ञेयमित्यर्थः ॥२६॥

इस प्रकार दोनों उत्तरायण दक्षिणायन कालों का स्वरूप बतलाकर उपसंहार करते हैं। पूर्वोक्त शुक्लगति तथा कृष्णगति जगत् में सनातन हैं, यह मेरा मत है। शुक्ल गति से अनावृत्ति तथा कृष्णगति से आवृत्ति होती है। इस प्रकार से गमनादि स्वरूप समझना चाहिये ॥२६॥

नैते सृती पार्थ ! जानन् योगी मुह्यति कश्चन् ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

एतज्ज्ञानफलं वदन्नुपसंहरति । नैते इति । एते सृती मार्गौ हे पार्थ ! मद्भक्त ! जानन् कश्चन योगी मत्सम्बन्धियोगं विना केवल योगीभूत्वा न मुह्यति न मोहं प्राप्नोति । स कामो भूत्वा केवलयोगाद्यासक्तो न भवतीत्यर्थः । यत एतज्ज्ञानिनो मोहो न भवति तस्मात् मदुक्तज्ञानयुक्तः सर्वत्र मोहरहितः सर्वेषु कालेषु लौकिकालौकिकेषु पूर्वोक्तेषु वा अर्जुन ! मोक्षजातीयनामयुक्त ! योगयुक्तो मद्योगयुक्तो भवेत्यर्थः ॥२७॥

उस ज्ञान का फल—हे मेरे भक्त अर्जुन ! मेरी भक्ति को त्यागकर केवल योगी पद पाकर कोई व्यक्ति इन दोनों मार्गों में मोह को प्राप्त नहीं करता । सकाम होकर वह केवल योगादि में आसक्त नहीं होता । क्योंकि ऐसे ज्ञानी को मोह नहीं होता । अतः मदुक्त ज्ञान से युक्त हो सर्वत्र मोह रहित होकर सब कालों में, लौकिक-अलौकिकों में मेरे योग वाला बन ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अभ्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

एवमष्टप्रश्नोत्तरमुक्त्वा तज्ज्ञानयुक्तयोगिनः सर्वकाल प्राप्तिमुक्त्वोपसंहरति । वेदेष्विति । वेदेषु अध्ययनादिभिः । यज्ञेषु यज्ञानुष्ठानादिभिः । तपःसु परमसंतापेन क्लेशसहनादिभिः । दानेषु तुलापुरुषादिभिर्यत्पुण्यफलं प्रदिष्टं उक्तमिति यावत् । तत्सर्वं फलमिदं समस्ताध्यायार्थं विदित्वा लभ्येति प्राप्नोति ततोऽधिकमपि योगी मद्योगयुक्तः सन् परं सेवाख्यं आद्यं सकलकारणरूपं मच्चरणात्मकं उपैति मत्समीपे प्राप्नोतीति भावः ॥२८॥

इस प्रकार आठ प्रश्नों के उत्तर देकर ज्ञान युक्त योगी को सर्वकाल में प्राप्ति होती है यह बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

वेदों में अध्ययनादि से, यज्ञ अनुष्ठानादि से, परम संताप से, तुला-पुरुष आदि दान से जो फल प्राप्त होता है, वह समस्त फल इस अध्यायार्थ को जानकर मिलता है, उससे भी अधिक मेरे योग से युक्त होकर मेरे चरणात्मक सकल कारण रूप को प्राप्त करता है ॥२८॥

शुद्ध आत्म-भक्ति के द्वारा भक्त पुरुषोत्तम में संयोग प्राप्त कर लेता है । श्रीकृष्णदेव ने यह अष्टम अध्याय में कहा है ।

जीवों को महापुरुष का संयोग जैसे होता है वह कृपा पूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण ने अष्टमाध्याय में अर्जुन को बतलाया है ।

इति श्रीभगवद्गीता रूप उपनिषद् के ब्रह्मविद्या विषयक योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद में पुरुषोत्तम योग का आठवां अध्याय, संस्कृत की अमृततरङ्गिणी टीका तथा उसकी श्रीधरी नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ८ ॥

॥ श्रीकृष्णायनमः ॥

नवम अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

प्रोवाच कृष्णः कृपया नवमे पाण्डवं प्रति ।
राजविद्याराजगुह्यं योगं स्वैश्वर्यबोधकम् ॥

एवं पूर्वाध्याये स्वस्वरूपं भक्त्यैकलभ्यमुक्त्वा भक्तिस्वरूपज्ञानमाह कृष्णः कृपया । इदं त्विति । इदं तु गुह्यतममत्यन्तं गुप्तं भगवद्विषयकभक्त्यात्मकं ज्ञानं विज्ञानसहितमनुभवसहितं भक्तिप्रतिफलनरूपं अनसूयवे=प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरमतिकाठिन्यभक्त्यैकलभ्यस्वरूपकथनेऽपि दोषरहितश्रवणैकपरचित्ताय ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण स्वरूपदानसहितं कथयिष्यामीत्यर्थः । यज्ज्ञात्वा यत्स्वरूपं ज्ञात्वा अशुभात् स्वरूपाज्ञानात्मकसंसारात् मोहाद्वा मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः । तु शब्देन सर्वेषामकथनीयत्वं ज्ञापितम् । ते इति कथनेन कृपया वक्ष्यामीति व्यञ्जितम् ॥१॥

नवम अध्याय में कृष्ण ने राजविद्या और राजगुह्य योग को ऐश्वर्य का बोधक बतलाया है । पूर्वाध्याय में भगवान् ने अपने स्वरूप को भक्ति द्वारा ही लभ्य बतलाया है । अब भक्ति-स्वरूप ज्ञान का उपदेश देते हैं । यह भगवद्विषयक ज्ञान अनुभव सहित (भक्ति प्रतिफलन स्वरूप) उत्तरोत्तर अति कठिन भक्त्यैकलभ्य स्वरूप कथन होने पर भी दोष रहित श्रवण मात्र से एक चित्त होने के कारण तुझे स्वरूप दान सहित समझाता हूँ । जिस स्वरूप के जान लेने पर तू अज्ञानात्मक संसार या मोह से मुक्त

हो जायगा । यहाँ तु शब्द यह व्यक्त करता है कि यह ज्ञान सर्व साधारण को सुलभ नहीं है । ते शब्द से ऐसे रहस्यात्मक ज्ञान को कृपा पूर्वक कहूँगा यह व्यंजित होता है ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

गुह्यतमत्वज्ञापनायोच्यमानस्य सर्वोत्तमत्वमाह । राजविद्येति । इदमुच्यमानं राजविद्या विद्यानां राजा ब्रह्मविद्यात्मकमित्यर्थः । राजगुह्यं गुह्यानां गोप्यानां राजा । विद्यासु मुख्यत्वाद्गोप्येषु मुख्यत्वात् कस्यापि न वक्तव्यमिति भावः । पवित्रं परमपावनमित्यर्थः । उत्तमं सर्वोत्कृष्टं प्रत्यक्षावगमं साक्षात्फलात्मकं दृष्टफलरूपमित्यर्थः । धर्म्यं धर्मोत्पादकं कर्तुं सुसुखं सुखेन कर्तुं योग्यं अव्ययं अविनाशि । यद्वा । अव्ययं कर्तुं स्वसुखं सुसुखं परमसुखमित्यर्थः ॥२॥

श्रीकृष्ण गुह्यतमत्व ज्ञापन के लिये प्रमाण देते हैं । यह कहा गया ब्रह्मविद्यात्मक उपदेश गोपनीय ज्ञानों का भी राजा है । यह सर्व साधारण से कहने योग्य नहीं है । यह परम पवित्र है तथा साक्षात् फलात्मक है । धर्मोत्पादक सुख से किये जाने योग्य तथा अविनाशी है अथवा यही परम सुख है ॥२॥

अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप !
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

एवं पूर्वं ते प्रवक्ष्यामीत्यनेन श्रद्धानाय तुभ्यं कथयामीति प्रतिज्ञाय एतदश्रद्धानाः संसारं प्राप्नुवन्तीति कथनेनैतस्योत्तमत्वं प्रतिपादयति । अश्रद्धाना इति । हे परन्तप ! मत्प्रणाशात्मकोत्कृष्टतपोयुक्त ! इदं ज्ञानं मद्रूपस्वरूपमश्रद्धानाः पुरुषाः योगज्ञा अपि अस्य धर्मस्य फलरूपं मां अप्राप्य मृत्युयुक्ते संसारमार्गे निवर्तन्ते परिभ्रमन्ति 'जायस्व म्रियस्वेति' तृतीयमार्गेऽ-

भिनिविष्टा भवन्तीत्यर्थः। अश्रद्दधाना इति कथनेन श्रद्धामात्रेणापि संसाराभावो व्यंजितः ॥३॥

इसमें अश्रद्धा करने वालों को ही संसार की प्राप्ति होती है। हे मेरी कृपा रूपी उत्कृष्ट तप युक्त अर्जुन! इन मेरे कहे हुए वाक्य रूप ज्ञान में अश्रद्धा करने वाले पुरुष चाहे वे योग ज्ञाता ही क्यों न हों, इस धर्म के फल रूप मुझे न पाकर मृत्यु युक्त इस संसार में जन्म ग्रहण और मृत्यु दोनों के चक्र में फंसे रहते हैं। भाव यह है कि संसार की निवृत्ति भगवान् में केवल श्रद्धा करने से भी हो जाती है ॥३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

एवं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपं च स्तुत्वा ज्ञानमेवाह द्वाभ्याम्। मयेति। अव्यक्ताऽतिरिक्तेषु लौकिकेन्द्रियाऽगोचरा स्वक्रियेच्छैकदृश्या मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य। वक्ष्यति चाग्रे 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः', 'भक्त्या त्वनन्यये'त्यादि। एतादृशेन मया इदं जगत् सर्वं जडजंगमात्मकमातृणस्तम्बान्तं सर्ववस्तुषु तत्तत्स्वरूपोऽहमेवास्मि। अव्यक्तत्वात्तथा सर्वैर्न ज्ञायते। एवं चेत्सर्वेषु भूतेषु तद्रूपः प्रविष्टो भवानाधिदैविकन्यायेन भविष्यतीत्यत आह मत्स्थानीति। मत्स्वरूपस्थानि सर्वाणि सन्ति सर्वाधारत्वात्। क्रीडेच्छया पृथक् तत्तद्रूपं प्रकटयामीति भावः। अपरिच्छिन्नत्वात् प्रकटमपि जगन्मय्येव तिष्ठति। तेषु न च अहम्। तेषु परिच्छिन्नतया न तिष्ठामीत्यर्थः ॥४॥

इस प्रकार उक्त ज्ञान की प्रशंसा करके दो श्लोकों से ज्ञान फिर कहा है। अर्जुन! मैं लौकिक इन्द्रियों द्वारा अगोचर हूं। अपनी इच्छा द्वारा ही किसी को दिखलाई पड़ता हूं। यह बात 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' तथा 'भक्त्यात्वनन्यया' श्लोक में कही जायगी। मैंने इस जड़-जंगम जगत् की सृष्टि क्रीडा के लिये ही की है। अथवा मैंने इस जगत् को अपनी अव्यक्त मूर्ति से व्याप्त कर रखा है। तृण से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सब वस्तुओं में उन-उन स्वरूपों में मैं ही विद्यमान हूं। अव्यक्त होने के कारण किसी के द्वारा जाना नहीं जाता।

सम्पूर्ण भूतों में तद्रूप से प्रविष्ट आप आधिदैविक न्याय से होंगे। अतः कह है कि मेरे स्वरूप स्थानीय सब हैं। क्रीडा की इच्छा से ही तत्तद्रूप प्रकट करता हूं अपरिच्छिन्न होने के कारण प्रकट हुआ भी जगत् मुझमें ही रहता है, मैं उन-उ पदार्थों में नहीं हूं क्योंकि वे पदार्थ असीमित नहीं हैं ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

मत्स्थानि सर्वभूतानीत्युक्त्या भगवतस्ते भिन्नाः भविष्यन्तीति ज्ञाने व्यापकत्वे भ्रमो मा भवत्वित्यत आह। न च मत्स्थानीति। च पुनः। ता भूतानि जातान्यपि भिन्नतया मत्स्थानि न किन्तु मदात्मकान्येवेत्यर्थः। न तर्हि कथं भेदप्रतीतिरित्यत आह। पश्य मे योगमैश्वरमिति। मे ऐश्वरं कर्तुम कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्वरूपं क्रीडात्मकं योगं पश्य। अयमर्थः। मया क्रीडार्थं भेदेऽपि भेदो बोध्यते। एतदेव विशदयति। भूतभृदिति। भूतानि आधारत्वे धारयति स्वक्रमार्थं पोषयतीति भूतभृत्। भूतानि पालयति तथा भावय स्वभाव भावितानि करोतीति भूतभावनः। एतादृशोऽपि सन् ममात्मा मदात्म स्वरूपं भूतस्थो न भवति। अयं भावः। तेषु क्रीडां कुर्वन्नपि यथा क्रीडार्थं सृष्टास्तत्र स्थिताः स्वाभिमानेन भिन्नतया तिष्ठन्ति तथाऽहं तिष्ठामि ॥५॥

समस्त भूत मुझमें स्थित हैं अतः वे भिन्न हैं ऐसा बोध न हो अतः कहते हैं भूत उत्पन्न होकर भी मुझ से भिन्न नहीं हैं। फिर यह प्रतीति कैसे होगी, अतः क है, मेरे करने न करने अन्यथा करने वाले सामर्थ्य (क्रीडात्मक योग) को देख भाव यह है कि मैं क्रीडा के लिये ही अभेद में भेद प्रतीति करा देता हूं। अपने के लिये पोषण करने वाला भूतभृत् कहा गया है, वह मैं भूतों का पालक होता हु भी मेरी आत्मा भूतों में स्थित नहीं है। भाव यह है कि उनमें क्रीडा करता हुआ जैसे वे क्रीडा के लिये रचे हैं, वहाँ स्थित भी वे अपने अभिमान से भिन्न-से रहते वैसे मैं नहीं रहता ॥५॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

तर्हि भवतो व्यापकत्वाज्जीवस्याणुत्वादव्यापकत्वाच्च मत्स्थानीत्याधाराधेयभावः कथमित्यत आह सदृष्टान्तम् । यथेति । यथा सर्वगो महानपि वायुर्नित्यमाकाशस्थितो भवति आकाशेन च न स्पृश्यते । नित्यपदेनाकाश एव सर्वत्र गतियुक्तो भवतीति व्यंजितम् । तथा सर्वाणि भूतानि सर्वत्रगतियुक्तानि मत्क्रीडेच्छयैव मत्स्थानीत्युपधारय जानीहि । उप=समीपे मत्समीपे धारय पश्येत्यर्थः ॥६॥

शङ्का—आप में और जीव में बहुत अन्तर है । आप व्यापक हैं, जीव अव्यापक है, अणु है, तब आधार आधेय भाव नहीं बन सकता, पर आपने तो कहा है कि वे मेरे आधार पर हैं । इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि जैसे सर्वत्र विचरण करने वाला महान् वायु नित्य आकाश में स्थित होते हुए भी आकाश से स्पृष्ट नहीं । उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों की जो सर्वत्र गति है वह मेरी क्रीडेच्छा के कारण है अतः 'मत्स्थानि' कहा गया है । नित्य पद से यह भी ध्वनित है कि आकाश ही सर्वत्र गति युक्त होता है । इसे मेरे समीप देख ॥६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

ननु भगवद्गतानां भवति स्थितानां नाशः कथमित्याशंक्याह । सर्वभूतानीति । हे कौन्तेय! कृपैकपात्र ! कल्पक्षये कल्पसमाप्तौ सर्वभूतानि मामिकां प्रकृतिं स्वरतीच्छारूपां यान्ति । पुनस्तानि कल्पादौ प्रपंचक्रीडेच्छया अहं विसृजामि विशेषेण नीचोच्चप्रकारेण वैचित्र्यार्थं सृजामि ॥७॥

शङ्का—जो आप में ही स्थित हैं, उनका नाश कैसे संभव है ? उत्तर देते हैं कि हे कौन्तेय ! कृपा पात्र ! कल्प की समाप्ति होने पर समस्त भूत मेरी प्रकृति (इच्छा रूप) को प्राप्त करते हैं । उन्हें मैं कल्प के आदि में प्रपंच क्रीडा की इच्छा से ही रच देता हूं । नीच उच्च यह वैचित्र्य मात्र है ॥७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

ननु त्वयि लीनानामानन्दनिमग्नानां पुनः सृष्टौ किं तात्पर्यमित्याशंक्याह । प्रकृतिमिति । स्वां प्रकृतिं असाधारणीं रमणात्मिकां अवष्टभ्य अधिष्ठाय रमणभावमंगीकृत्य पुनः पुनः वारं वारं मम क्रीडायोग्यं मद्दर्शनयोग्यं च भूतग्रामं चतुर्विधं कृत्स्नं पूर्णं अवशं मदिच्छाधीनं प्रकृतेर्वशात् क्रीडात्मकस्वरूपवशात् सृजामि । अन्यथा सृष्टानां पूर्वोक्तदूषणं स्यात् स्वक्रीडार्थं सृष्टानामवाप्यानन्दरूपतैवेति भावः ॥८॥

शङ्का—जो तुम में लीन हैं, आनन्द में मग्न हैं, उनका सृष्टि में तात्पर्य ही क्या ? अतः कहते हैं कि अपनी रमण स्वरूपिणी असाधारणी प्रकृति को अङ्गीकार कर मेरे क्रीडा योग्य इस भूत ग्राम को, जो चार प्रकार का है और जो सर्वात्मना वश में है, उसे क्रीडात्मक स्वरूप के वश से ही रचता हूं । यदि भूतग्राम स्वक्रीडार्थ रचित न होता तो पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता, अतः वह तो आनन्द रूप ही है ॥८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

ननु रमणात्मकशक्तिवशसृष्टानि तानि त्वां वशीकृत्य प्रपंचरमणं एवं कथं न स्थापयन्तीत्याशंक्याह । न च मामिति । हे धनंजय ! लौकिकपरवशीकृचित्त ! तानि भूतानि उदासीनवत् आसीनं तेषु, परमकृपया कृतार्थीकरणार्थं

तेषु तिष्ठन्तं मां न निबध्नन्ति न वशीकुर्वन्ति। च पुनः। कर्माणि क्रीडात्मकानि च मां न वशीकुर्वन्ति। कुतः। तेषु कर्मसु क्रीडात्मकेष्वपि असक्तं अनासक्तं आत्मनाऽऽरामत्वात् शक्तिषु रसदानार्थं क्रीडाकरणात्। एतदेवोक्तं —

'रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया।
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः ॥' इति ॥९॥

शङ्का—यदि रमणात्मक शक्ति वश ही समस्त भूतों की रचना की गई है तो वे तुम्हें वश में करके प्रपंच में ही स्थापित क्यों नहीं करते ?

उत्तर—हे धनंजय=लौकिक परलौकिकवित्त ! मैं उन भूतों में उदासीन की भाँति रहता हूं। उन पर कृपा करना मात्र मेरा लक्ष्य है, अतः उनमें रहते हुए भी वे मुझे वश में नहीं करते। क्रीडात्मक कर्म भी मुझे वश में नहीं करते; क्योंकि उन क्रीडात्मक कर्मों में मेरी आसक्ति ही नहीं है। मैं तो आत्माराम हूं, शक्तियों में रसदान के निमित्त क्रीडा करता हूं। यह बात अन्यत्र भी कही है कि—

देवी लक्ष्मी की प्रार्थना से उसके प्रिय करने के हेतु वैकुण्ठ लोक की रचना की गई जो सम्पूर्ण लोकों द्वारा नमस्कृत है ॥९॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥

ननूदासीनस्तेषु त्वं चेत्तदा प्रकृतिवशोत्पन्ना जीवाः कथं क्रीडायोग्या भवन्ति कथं वा त्वं कर्त्तृत्वाशङ्क्याह। मयेति। मया परिदृश्यमानेन अध्यक्षेण अधिष्ठात्रा सकलकर्त्रा क्रीडाधिष्ठिता सती प्रकृतिः सचराचरं जडजीवसहितं जगत् सूयते जनयति। अनेन क्रीडात्मकेन हेतुना कारणेन जगत् विशेषेण परिवर्त्तते जायते च। अतो योग्या भवन्तीत्यर्थः ॥१०॥

शङ्का—यदि आप उदासीन हैं तो प्रकृति वश उत्पन्न हुए जीव क्रीडा योग्य कैसे ? अथवा उनका कर्त्तृत्व आप में कैसे घटित होगा ?

उत्तर—मैं इस जगत् का अध्यक्ष हूं, कर्त्ता हूं, मेरे द्वारा प्रेरित इस क्रीडा की अधिष्ठातृ प्रकृति जड़-जीव सहित जगत् को उत्पन्न करती है। क्रीडात्मक कारण से ही जगत् विशेष रूप से उत्पन्न होता है। अतः वे जीव भी क्रीडा की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं ॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

नन्विदं स्वरूपं सर्वाधिष्ठातृ सर्वे कथं न जानन्तीत्यत आह। अवजानन्तीति। द्वयेन। मूढा असुराः केवलमिच्छयैव सृष्टाः, मम भूतमहेश्वरं सर्वाधिष्ठातृ सर्वाधिदैविकरूपं परं भावं पुरुषोत्तमात्मकं अजानन्तो मानुषीं तनुं आश्रितं स्वाज्ञानेन मां ज्ञात्वा अवजानन्ति अवमन्यन्ते। अत्रायं भावः। पुरुषोत्तमोऽयं येन स्वरूपेण वदति तदेव स्वरूपं ब्रह्मरूपमानन्दमयं तमेव मानुषीं तनुमाश्रितं जानन्ति अज्ञत्वात् ॥११॥

शङ्का—आपके सर्वाध्यक्ष रूप को समस्त जीव नहीं जानते ऐसा क्यों ?

उत्तर—मूढ (जिनकी रचना इच्छा से ही की है ऐसे असुर) मुझको समस्त भूतों का ईश्वर पुरुषोत्तम हूं, ऐसा न जानकर, मनुष्य शरीर को पाकर अपने अज्ञान से मुझे न जानकर, मेरा अपमान करते हैं। भाव यह है कि यह पुरुषोत्तम जिस स्वरूप से उपदेश देता है, वही स्वरूप ब्रह्मरूप आनन्दमय है, वही मनुष्य तनु को धारण करता है, ऐसा अज्ञ होने के कारण जानते हैं ॥११॥

मोघाऽशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

तेषां मूढत्वं विशदयति। मोघाशा इति। मोघाशाः मोघं निष्फलं असमर्पितान्नं केवलं देहपोषार्थं अश्नन्ति भक्षयन्तीति तथा। मोघं निष्फल-

मेव । भगवत्सेवातिरिक्तकर्मकर्त्तारः । मोघज्ञानाः । मोघं निष्फलं । मोहकशास्त्रोक्त भगवत्स्वरूपज्ञानातिरिक्तज्ञानयुक्ताः । विचेतसः अव्यवस्थित मनसः । राक्षसीं स्वदेहपोषणरूपां । च पुनः । आसुरीं परोपद्रवकरणरूपां मोहिनीं मद्विस्मारिकां प्रकृतिमेव मायामेव स्वभावं आश्रिताः । अतएव मां मानुषीं तनुमाश्रितं ज्ञात्वा अवमन्यन्त इति पूर्वेणान्वयः ॥१२॥

उनकी मूढ़ता इस श्लोक में कही है । वे मूढ़ असमर्पित अन्न को खाने वाले, भगवत्सेवा के अतिरिक्त कर्म करने वाले, मोहक शास्त्रोक्त भगवत्स्वरूप ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान से युक्त या केवल असार ज्ञान युक्त, अव्यवस्थित मन वाले, स्वदेह को पुष्ट करने वाली राक्षसी परोपद्रवकरणरूपा आसुरी, मुझे विस्मृत कराने वाली मोहिनी माया स्वभाव को धारण करके मुझे मनुष्य शरीरधारी जानकर ही मेरा अपमान करते हैं ॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

एवमासुराणां स्वाऽज्ञानमुक्त्वा दैवानां स्वज्ञानमाह । महात्मानस्त्विति । हे पार्थ ! भक्तस्वरूपश्रवणयोग्य ! महात्मानस्तु महान् अहमेव आत्मा येषां ते महात्मानः । तु शब्दः प्रकरणान्तरज्ञापनाय । तदेवाह दैवीं क्रीडात्मिकां देवरूपां वा प्रकृतिं स्वभावं आश्रिताः । अनन्य मनसः । न विद्यते अन्यत्र मद्व्यतिरिक्ते मनो येषां ते मां भूतादि सकलजगत्कारणं अव्ययं नित्यं यथार्थरूपं ज्ञात्वा भजन्ति ॥१३॥

इस प्रकार असुरों का अज्ञान बतलाकर देवों का ज्ञान बतलाते हैं ।

हे पार्थ ! भक्तस्वरूप श्रवणीय योग्य ! मैं ही हूं आत्मा जिनकी ऐसे आत्मा वाले, देवरूपा प्रकृति को जानकर अनन्य मन से मुझे ही सकल जगत् का कारण अव्यय नित्य यथार्थ रूप वाला मानकर भजते हैं ॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

ते च द्विविधाः, भक्ता ज्ञानिनश्च । तत्र प्रथमं भक्तानां भजनप्रकारमाह । सततमिति । सततं निरन्तरं मां कीर्तयन्तः । लीलास्वरूपज्ञानेन श्रीभागवतोक्तप्रकारेण गुणगानं कुर्वन्तः । सर्वत्र मदुत्कर्षं कथयन्तः । यतन्तश्च कीर्तने यत्नादिकं कुर्वाणाः । इन्द्रियनिग्रहं वा कुर्वन्तः । च कारेण श्रवणादिकं ज्ञाप्यते । पुनः कीदृशाः । दृढव्रताः दृढं ऐहिकपारलौकिकयोर्मदेकनिष्ठं मोहशास्त्राद्यपरिभूतं व्रतं निश्चयो येषां तादृशाः । किं च नमस्यन्तश्च 'किमासनं ते गरुडासनाय' इत्यादिना परमकाष्ठापन्नवस्तुरूपनमस्कारं कुर्वन्तः स्वदैन्याविर्भावपूर्वकं च कारेण नृत्यादिकमपि कुर्वन्तः । पुनः कीदृशाः । नित्ययुक्ताः सावधानाः मदेकपरचित्ताः । भक्त्या स्नेहेन न तु विहितत्वेन मां उपासते सेवन्त इत्यर्थः ॥१४॥

ये दो प्रकार के हैं—भक्त और ज्ञानी ! भक्तों का भजन क्रम यही है कि वे मेरा भजन अहर्निश करते रहते हैं, लीला स्वरूप ज्ञान से श्री भागवत में कहे गये प्रकार से गुणगान करते हैं । सर्वत्र मेरी प्रशंसा करते हैं । कीर्तन में यत्न करते हैं अथवा इन्द्रियों का निग्रह करते हैं । श्रवणादि करते हैं । उनका व्रत दृढ़ होता है । इस लोक और परलोक में केवल मुझमें ही उनकी निष्ठा होती है । वे मोह शास्त्रों से प्रभावित नहीं होते । 'हे गरुडासन, आपको क्या आसन दें' इस भावना से नमस्कार करते हुए अपने दैन्य भाव को प्रकट करते हुए नृत्यादि करते हैं । वे सावधान रहते हैं, मुझमें ही उनका चित्त होता है और बड़े स्नेह पूर्वक ही वे मेरी सेवा करते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

एवं भक्तानां भजनप्रकारमुक्त्वा ज्ञानिनामाह । ज्ञानयज्ञेनेति । अन्ये ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन चापि ज्ञानात्मकयजनप्रकारेण चापि यजन्तो हृद्येव मां पूजयन्त उपासते भजन्त इत्यर्थः । अपिशब्देन चकारेण च पूर्वोक्तभजनापेक्षया हीनत्वं व्यज्यते । ज्ञानभजने बहवः प्रकाराः सन्ति तानाह । एकत्वेन सोऽहं ब्रह्मास्मीति प्रकारेण पृथक्त्वेन योगेन शरणागमनरीत्या बहुधा सर्वत्र तद्रूपेण विश्वतोमुखं सर्वात्मकं मां एवमनेकप्रकारेण मां उपासते भजन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

ज्ञानियों का भजन प्रकार यह है कि वे ज्ञानात्मक यजन प्रकार से ही मेरी उपासना करते हैं। 'च' कार शब्द ध्वनित करता है कि यह प्रकार पूर्वोक्त भजन प्रकार से हीन है। ज्ञान भजन में अनेक प्रकार हैं। 'सोऽहम्' 'ब्रह्मास्मि' आदि एकत्व विधायक तथा योग से शरणागति तथा सर्वत्र आप ही हो। 'विश्वतोमुखम्' 'सर्वात्मक' आदि वाक्यों से वह सर्वत्र है इस प्रकार अनेक रूप से मेरा भजन करते हैं ॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

नन्वेकमेव त्वां बहुधा ये भजन्ति ते च ज्ञानिन एव तेषां अज्ञाने ज्ञाने कथं प्रवेश इत्याशंक्य तत्तदात्मकं मां ज्ञात्वैव भजन्तीति ज्ञापनाय स्वस्य सर्वात्मत्वं प्रकटयति । अहं क्रतुरित्यादि । चतुर्भिः । क्रतुः यज्ञाधिष्ठात्री देवता अहम् । आधिदैविकरूपस्तत्फलदातेत्यर्थः । यज्ञो धर्मात्मकोऽग्निहोत्रादिर्यज्ञात्मकोऽहम् । स्वधा पित्रर्थं श्राद्धादि पितृयज्ञरूपोऽहम् । औषधं सकलरोगनिवर्तनात्मकभैषज्यरूपोऽन्नरूपो वा अहम् । मन्त्रः ऋगादिरहम् । आज्यं होमद्रव्यं हविः । अग्निराहवनीयादिः । हुतं होमः ॥१६॥

आप एक हैं और ज्ञानी ही आपका भजन करते हैं तो उनका अज्ञान में प्रवेश क्यों होता है। भगवान् इस शङ्का का उत्तर देते हुए कहते हैं कि उन-उन में मेरा स्वरूप देखकर ही वे भजन करते हैं इसे ज्ञापित करने के लिये चार श्लोक में सर्वात्मत्व का प्रकटन करते हैं। वे कहते हैं—यज्ञ का अधिष्ठाता देव मैं हूं। आधिदैविक रूप और उसका फलदाता मैं हूं। अग्निहोत्रादि यज्ञ का स्वरूप भी मैं ही हूं। श्राद्धादि द्वारा जो पितृ-यज्ञ किया जाता है वह भी मैं हूं। सकल रोगों की नाश करने वाली औषधि अथवा अन्न मैं हूं। ऋगादि मन्त्र, घृत, होम का द्रव्य हवि, आहवनीय अग्नि और हवन भी मैं हूं ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकारं ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

किं च । अस्य जगतो महदात्मकस्य अहमेव पिता उत्पादकः । माता योनिः । धाता कर्मफलदाता । पितामहो ब्रह्मा । वेद्यं सर्वज्ञानादिसाधनैर्वेद्यवस्तु । पवित्रं पावनम् । ओंकारं अक्षरात्मकब्रह्मबीजम् । ऋगादिवेदत्रयात्मा ॥१७॥

यह जगत् मेरा ही स्वरूप है। इसका उत्पादक पिता भी मैं हूं। और इसकी माता अर्थात् योनि, धाता=कर्म फलदाता, पितामह=ब्रह्मा सम्पूर्ण ज्ञानादि द्वारा जानने योग्य, पवित्र, अक्षरात्मक ब्रह्म बीज, ऋग्वेदादि तीनों वेद भी मैं हूं ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गतिर्मोक्षादिफलरूपः । भर्ता पोषकः । प्रभुः समर्थः सर्वनियन्ता । साक्षी द्रष्टेत्यर्थः । निवासः स्थानं सर्वदेहस्वरूपात्मक इति । शरणं अभयदाता मृत्युप्रभृतिभयरक्षकः । सुहृत् अप्रार्थितहितकर्त्ता । प्रभवः प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति जगत्स्रष्टा । प्रलयः प्रकर्षेण लीयतेऽस्मिन्निति लयस्थानम् । स्थानं तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं सकलाधारः । निधानं निधीयते स्थाप्यतेऽनेनेति

निधानं रक्षक इत्यर्थः । अव्ययं बीजं अविनाशि बीजं मूलकारणमित्यर्थः ॥ १८ ॥

मोक्षादि फल रूप गति, पोषक, सबको नियन्त्रित करने में समर्थ, साक्षी, देह स्वरूपात्मक स्थान, मृत्यु प्रभृति भयों से भी रक्षा करने वाला, बिना प्रार्थना किये हितकारी, जगत रचयिता, लयस्थान, स्थान=सकलाधार, निधान=रक्षक, अविनाशी बीज=मूलकारण मैं हूँ ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

तपामि रसास्वादनार्थं सर्वेषां तापं करोमि । यदा तपामि तदा वर्षं रसात्मकं निगृह्णामि आकर्षामि स्वस्मिन् स्थापयामि । च पुनः । तद्दानसमये पुनरुत्सृजामि । अमृतं जीवनं अक्षयम् । मृत्युश्च मृत्युरूपः । सत् स्थूलं परिदृश्यमानम् । असत् सूक्ष्मं अदृश्यम् । हे अर्जुन ! एतत्सर्वं पूर्वोक्तं अहमेवेत्यर्थः । एवं बहुधा मामुपासत इति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ १९॥

रसास्वादन के लिये सबको तापदायी, जब तपता हूँ रसात्मक वर्षा को आकर्षित करता हूँ, दान के समय उसे छोड़कर वर्षा करता हूँ । जीवन-मृत्यु, दृश्यमान—स्थूल, अदृश्य—सूक्ष्म, मैं ही हूँ । हे अर्जुन ! इस प्रकार मेरी उपासना अनेक प्रकार से लोग करते हैं ॥१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक–
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥२०॥

एवं बहुप्रकारकं मत्स्वरूपमुक्तं तदज्ञात्वा ते यज्ञादिकमन्यथा कुर्वन्ति सकामास्ते जन्ममरणात्मके संसारे तिष्ठन्तीत्याह द्वाभ्याम् । त्रैविद्या इति । त्रैविद्याः वेदत्रयीनिरूपितकर्मकर्तारः । सोमपाः यज्ञशेषामृतपातारः । पूतपापाः कर्मिणां पापसंभवाद्विधूतकल्मषाः । यज्ञैरेव वा विधूतकल्मषाः । मां यज्ञैरिष्ट्वा मदाज्ञाकारत्वेन भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वमज्ञात्वा तत्स्वरूपमज्ञात्वा स्वर्गतिं इन्द्रादिलोकं प्रार्थयन्ति ॥२०॥

तीनों वेद के अनुसार कर्म करने वाले, यज्ञावशेष अमृत का पान करने वाले, पाप दूर करने वाले अथवा यज्ञों द्वारा पापों को निवारण करने वाले, मेरी आज्ञा से ही यज्ञों को करके यज्ञ भक्ति के प्रतिबन्धक नहीं है—यह जानकर, उसके स्वरूप को न जानकर इन्द्रादि लोकों की प्रार्थना करते हैं ॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

ते पुण्यात्मकं सुरेन्द्रलोकमासाद्य प्राप्य दिवि स्वर्गे स्वर्गलोकं विशालं सकलविषयभोगयोग्यं भुक्त्वा भोगेन पुण्ये क्षीणे सति मर्त्यलोकं विशन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एवं प्रकारेण त्रयीधर्ममिष्टं परित्यज्य कामकामाः सन्तोऽनुप्रपन्नाः गतागतं जन्ममरणात्मकप्रवाहं लभन्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥२१॥

वे पुण्यात्मक सुरेन्द्रलोक को प्राप्त कर स्वर्गलोक में सकल विषय भोग योग्य वस्तु को भोगकर पुण्यों के क्षीण हो जाने पर मृत्युलोक में आ जाते हैं । इस प्रकार त्रयी धर्म को त्याग कर कामकामी बनकर जन्म-मरणात्मक प्रवाह को प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अथ ये पूर्वोक्तास्तत्स्वरूपं मदंशत्वयुक्तं ज्ञात्वा सर्वं परित्यज्य मां भजन्ति तेषां सर्वमहमेव करोमि ते उत्तमा इति तत्स्वरूपमाह । अनन्या इति । अनन्याः न विद्यते अन्यो लौकिकाऽलौकिकादिषु मत्सेवेतरो येषां, वा मत्सेवनातिरिक्तं फलं येषां ते तथाभूताः सन्तो मां एकं चिन्तयन्तः सर्वतो मनोनिरोधेन मां स्मरन्तो ये दुर्लभा जनाः जन्मभाजो मत्सेवार्थकजन्मज्ञानवन्तः पर्युपासते परितः सर्वात्मभावेन सेवन्त इत्यर्थः । तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यस्वरूपस्य मम सेवनपराणां मम नित्यं अभियुक्तानां सम्मतानां योगं सेवार्थधनादिसम्पत्तिलाभं सेवने मद्योगं वा, क्षेमं तत्पालनं भक्त्युन्मुखीकरणात्मकं मद्भावरूपं वा अहं पुरुषोत्तमः वहामि पालयामीत्यर्थः । वहनोक्त्या तदशक्तौ स्वशक्त्याऽऽविर्भावेन तत्करोमीति व्यञ्जितम् ॥२२॥

पूर्व जो स्वरूप बतलाया है वह मेरे ही अंश का बल है । यह जानकर जो सबका परित्याग कर मेरा भजन करते हैं उनका मनोरथ मैं पूर्ण करता हूँ । वे उत्तम हैं, उनका स्वरूप बतलाते हैं ।

जिनको लोक व परलोक में अन्य कुछ भी इच्छित नहीं है, ऐसे अनन्य जन, मेरी सेवा के अतिरिक्त जिन्हें कभी किसी अन्य फल की इच्छा ही नहीं, 'जिन्होंने अपने मन को सब जगह से हटाकर मेरा स्मरण करते हुए मेरी सेवा के लिये ही जन्म ग्रहण किया है वे ऐसा ज्ञान धारण कर मेरी सर्वात्मक भाव से सेवा करते हैं । उन सेवा परायण व्यक्तियों की सेवा के लिये धनादि सम्पत्ति का धारण अथवा सेवन में उद्योग, योगक्षेम = उनका पालन या भक्ति की ओर उन्मुखीकरण (मद्भाव रूप) मैं पुरुषोत्तम ही करता हूँ । वहन का तात्पर्य यह है कि उनकी आवश्यकता होने पर अपनी शक्ति से उन्हें शक्ति सम्पन्न बनाता हूँ ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता भजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

नन्वन्यदेवभजनकर्त्तारोऽपि त्वदंशत्वात् त्वद्भजनमेव कुर्वन्तीति कथं न तेषु त्वत्कृपा तद्भजनं च कथं भोग एव क्षीयत इत्यत आह । येऽपीति येऽपि श्रद्धयाऽन्विताः श्रद्धायुक्तास्तदासक्तास्तद्धर्मसंयुक्ता अन्यदेवता यज्ञादिसाधनैस्तदधिष्ठातृरूपेण मदंशाज्ञानेन भजन्ति तेषु मदंशत्वात् मामेव भजन्ति परन्तु मत्स्वरूपाज्ञानादविधिपूर्वकं भजन्त्यतस्तेषां तद्भजनानुरूपं क्षयिष्णुरेव फलं भवति अहं च न कृपां करोमीत्यर्थः । अतएव स्मृतिष्वविधिकरण निषेधः ।

विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् ।
तद्धरन्त्यसुरास्तस्य मूढस्याऽकृतात्मनः ॥ इति ॥ २३ ॥

शङ्का — अन्य देवों की उपासना करने वाले भी तो तुम्हारे ही अंश हैं । अतः तुम्हारा ही भजन तो करते हैं । उन पर आप कृपा क्यों नहीं करते ? उनका भोग क्षीण क्यों होता है ?

उत्तर — जो श्रद्धालु यज्ञादि साधनों से उनके अधिष्ठाताओं का यजन करते हैं और उनमें मेरा अंश है ऐसा नहीं जानते, वे भी भजन तो मेरा ही करते हैं क्योंकि उन देवों में भी तो मेरा अंश है । परन्तु मेरे स्वरूप के ज्ञान के अभाव में वे अविधि पूर्वक भजते हैं अतः उनको भजन के अनुरूप क्षीण होने वाला ही फल मिलता है, इसीलिये मैं उन पर कृपा नहीं करता । इसीलिये स्मृतियों में बिना विधि के कुछ भी करने का निषेध किया गया है । लिखा भी है कि — विधि से रहित भावना से दूषित अश्रद्धा पूर्वक किया गया मूढ का सुकृत असुरों द्वारा अपहृत हो जाता है ॥२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

विधिहीनत्वमाह । अहमिति । हि निश्चयेन सर्वयज्ञानां भोक्ता तदधिष्ठातृदेवानां मदंशत्वात्तद्रूपेण अहं भोक्ता । चकारेण तद्रूपोऽपि । प्रभुरेव च । फलदाता चेत्यर्थः । एवकारेण द्वितीय चकारेण च सर्वप्रभुत्वेन भोक्तृत्वेऽपि मदेकांशप्रीणनमेव भवति न तु सर्वप्रभुत्वप्रीतिरिति ज्ञापितम् । एतादृशं मां तु पुनस्तत्त्वेन मूलरूपेण न अभितः सर्वप्रकारेण जानन्ति यावान् 'यश्चास्मि यादृश' इति । अतस्ते च्यवन्ति पर्यावर्तन्ते । मत्तो वा च्यवन्ति भ्रश्यन्ति । अत्रायं भावः । भगवदंशदेवताभजनत्वेन यज्ञादिना वा यत्फलं भवति तन्महाप्रभुभजनेन भवति 'मूलनिषेकः शाखाप्यायनीति' न्यायेन प्रभुभजने तेऽपि प्रमोदन्ति तद्भजने त एव प्रसीदन्ति तदंशप्राकट्यं च भवेत् । अतएव युधिष्ठिरेण श्रीभागवते—

'क्रतुराजेन गोविन्द ! राजसूयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥'

इति विज्ञापितं । तेन भगवदिच्छया भगवद्भजनं कुर्वता तदिच्छां ज्ञात्वा तदंशप्राकट्यं चेत्तदा तद्रीत्यैव कार्यमन्यथा न कार्यमेतदज्ञानात्तत्त्वज्ञानाभावः ॥२४.।

यज्ञों के अधिष्ठाता भी मेरे अंश हैं अतः उनमें भी बैठकर मैं यज्ञीय पदार्थों का भोक्ता हूँ और उनका रूप भी हूँ । प्रभु हूँ, फलदाता हूँ । सबका प्रभु होने के कारण भोक्ता होने पर भी मेरे एक अंश का ही प्रीणन होता है । मुझे वह सम्पूर्ण रूप में नहीं जानता । अतः वह नष्ट हो जाता है अथवा मुझसे भ्रष्ट हो जाता है। भाव यह है कि देवता में भगवान् का अंश है,अतः उसके भजन से, यज्ञादि के करने से जो फल होता है वह महाप्रभु के भजन से होता है । एक न्याय है, 'मूल को सींचने से शाखा का सींचना भी हो जाता है । इस न्याय से प्रभु के भजन में

अन्यों का भी भजन हो जाता है और केवल देवता के भजन से उतना भगवदंश ही प्रसन्न होता है जितना देवता में विद्यमान है । अतएव युधिष्ठिर ने भागवत में कहा है कि 'हे गोविन्द ! राजसूय यज्ञ के द्वारा आपकी विभूतियों को तृप्त करना चाहता हूँ अतः आप उसे सम्पादित करें ।' अतः भगवान् की इच्छा से भगवद्भजन करते हुए उसकी इच्छा को जानकर तदंश प्राकट्य हो (जिस देव का भजन किया है उसका यदि स्फुरण हो) तो उसकी रीति से ही वह कार्य करना चाहिये । अन्यथा तत्त्वज्ञान के अज्ञान के कारण उसे नहीं करना चाहिये ॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

ननु स्वदंशाज्ञाने यजनकर्तारश्च्यवन्ति येषां तु स्वदंशज्ञानेन तद्देवयजनकर्तृत्वं तेषां किं फलमित्यत आह । यान्तीति । देवव्रताः इन्द्रादिषु मदंशज्ञानेन तद्रूपेषु सनियमाः । देवान् तानेव यान्ति प्राप्नुवन्ति । पितृव्रताः श्राद्धादिविधिभिः पितृयाजकाः पितॄन् यान्ति प्राप्नुवन्ति । भूतेज्याः विनायकदुर्गादिपूजकाः भूतानि तान्येव यान्ति । अत्रायमर्थः । तत्तद्देवान् प्राप्य तत्संगेन परंपरया मां प्राप्नुवन्ति । मद्याजिनः कर्मादिभिस्तदाधिदैविकरूपं मद्यजनकर्तारोऽपि मां प्राप्नुवन्ति । ते परंपरया मां प्राप्नुवन्ति । एते साक्षादिति विशेषः । अपिशब्देन कर्ताङ्गत्वेन भजनेऽपि मुक्त्यात्मकस्वप्राप्तिरूपफलविशेषो व्यञ्जितः ॥२५॥

शङ्का—आपके अंश की बात को न जानकर जो यज्ञादि करते हैं वे तो च्युत हो जाते हैं, किन्तु आपके अंश के ज्ञान को जानकर जो यजन करते हैं उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—इन्द्रादि में मेरा अंश जानकर नियम करने वाले उन्हीं को प्राप्त करते हैं, श्राद्धादि विधि से पितृ यजन करने वाले पितरों को प्राप्त करते हैं, विनायक दुर्गा आदि के पूजक उनको पाते हैं । भाव यह है कि उन-उन देवों को प्राप्त

कर परम्परा द्वारा वे मुझे ही प्राप्त होते हैं । मेरा यजन करने वाले भी मुझे प्राप्त करते हैं । वे परम्परा द्वारा मुझे पा जाते हैं और ये साक्षात् । अपि शब्द द्वारा कर्माङ्ग भजन से भी मुक्त्यात्मक स्वरूप प्राप्ति विशेष रूप से वर्जित है ॥२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

भक्तेषु विशेषमाह । पत्रमिति । पत्रं तुलस्यादीनां प्रियरूपम् । पुष्पं अलङ्कारात्मकम् । फलं सामग्रीरूपम् । तोयं सामग्रीभेदरूपं । यो मे मम भक्त्या स्नेहेन नतु विहितत्वेन प्रयच्छति प्रकर्षेण भावात्मकतया समर्पयति । तत् पूर्वोक्तं सर्वं भक्त्युपहृतं स्नेहेन समर्पितं प्रयतात्मनः मदेकपरतया वशीकृतचेतसः । अहं पुरुषोत्तमः । अश्नामि भुंजामीत्यर्थः । अनायासप्राप्त्यर्थं पत्रादिकमुक्तम् । अशनोक्त्या तदङ्गीकारेणाग्रे स्वभोगयोग्यसर्वसामग्रीसंपादनं व्यज्यते । अतएव सुदामार्थं स्वसंपद्दाने पृथुकमुष्टिमङ्गीकृतवान् ॥२६॥

भक्तों का वैशिष्ट्य बतलाते हैं—

जो तुलसी आदि पत्र, अलंकारात्मक पुष्प, सामग्रीरूप फल, सामग्री भेदरूप जल, भावना द्वारा समर्पित करता है, उस स्नेह से समर्पित द्रव्य को मैं पुरुषोत्तम ग्रहण करता हूँ । अनायास प्राप्ति के कारण पत्रादि कहे हैं । 'अश्नामि' क्रिया के द्वारा उसके अङ्गीकार से स्वभोग योग्य सर्वसामग्री सम्पादन व्यक्त है । इसीलिये तो सुदामा के लिये अपनी सम्पत्ति दान के समय तन्दुल की मुष्टि ग्रहण की थी ॥२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

यतोऽहं भक्त्युपहृतमङ्गीकरोम्यतः पूर्वंकृतानां कुर्वतां च कर्मणां फलभोगरूपप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं तत्सर्वं मदर्पितं कुर्वित्याह । यत्करोषीति । यत् लौकिकं वैदिकं करोषि । यत् अश्नासि भुङ्क्षे । यत् जुहोषि होमं करोषि । यत् ददासि दानं करोषि । तत्सर्वं मदर्पणं मत्समर्पितं कुरुष्व । देहादिधर्मान् विवाहपुत्रोत्पत्त्यर्थंकामादीन् निद्राजागरणमूत्रपुरीषादित्यागानपि भगवत्सेवाद्यर्थंप्रतिबन्धाभावार्थविचारेण कुर्यात् नतु स्वसुखेच्छया । तथा भोजनादिकमपि । तत्र प्रसादजपुष्ट्या सेवार्थबलप्राप्त्यर्थम् । होमश्च तद्वियोगजदुःखास्ये । दानं च तदीयत्वेन द्रव्यशुद्ध्या भगवद्विवियोगप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थम् । तपश्च भगवतः कारुण्योदयार्थम् । एवमेतत्सर्वं भगवत्समर्पितं भवति ॥ २७ ॥

अर्जुन ! मैं भक्ति द्वारा प्रदत्त सामग्री अङ्गीकार करता हूँ । अतः पूर्वकृत कर्मों के फल भोग की निवृत्ति के लिये सब कुछ मेरे अर्पित कर ।

“जो भी लौकिक वैदिक कर्म करते हो, जो भोजन करते हो तथा जो हवन करते हो, जो दान देते हो, वे सब मेरे ही अर्पण करो । देहादि के धर्म जैसे 'विवाह' पुत्रोत्पत्ति के हेतु करो, काम का सेवन भी भगवत्सेवार्थ करो, निद्रा, जागरण, मूत्र-पुरीष आदि का त्याग भी अपनी सुख प्राप्ति की बुद्धि से न करो । भोजन भी प्रसाद से उत्पन्न होने वाली पुष्टि से सेवा में बल प्राप्ति की इच्छा से करो । हवन भी उसके वियोगज दुःखमुक्ति में करे । भगवान् के प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिये द्रव्य शुद्धि के लिये दान दे । तपस्या भगवान् में करुणा उत्पन्न करने के लिये करे । इस प्रकार यह सब भगवान् को ही समर्पित होती है ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं भोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

एवं मत्समर्पितेषु तत्कृतबन्धो न भविष्यतीत्याह । शुभाशुभफलैरिति ।

एवं मत्समर्पणेन शुभाशुभफलैः शुभानि शुभपुत्रादीनि । अशुभानि क्लेशदारिद्र्यादीनि यानि कर्मजानि फलानि तैर्मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः । तानि फलानि मत्सेवौपयिकान्येव भविष्यन्तीति भावः । ततः संन्यासयोगयुक्ताऽऽत्मा संन्यासः कर्मणां मत्समर्पणं तेन यो योगो मद्भक्त्यात्मकस्तेन युक्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य तादृशः सन् कर्मबन्धनैर्विमुक्तो मामुपैष्यसि प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥२८॥

इस प्रकार समस्त क्रिया मुझे समर्पित करने पर बन्धन कभी नहीं होगा । मुझे समर्पित करने से शुभ पुत्रादि, अशुभ क्लेश-दारिद्र्य आदि कर्म से उत्पन्न होने वाले फलों से मुक्ति हो जाती है । वे फल मेरी सेवा के उपयुक्त बन जाते हैं । तब कर्मों का समर्पण करके मेरी भक्ति से युक्त होकर कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त करोगे ॥२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

एवं कर्मसमर्पणेन तद्बन्धनिवृत्त्युक्त्या, असमर्पकाणां च बन्ध एव पर्यवसितस्तेन स्ववैषम्यमाशंकमानमाह । समोऽहमिति । अहं सर्वभूतेषु समः । न मे द्वेष्यः कोऽपि । न प्रियः । अत्रायं भावः । स्वक्रीडार्थं सर्वभूतानि मया सृष्टान्यतस्तेषु सर्वेष्वहं समः, ये क्रीडार्थकत्वमज्ञात्वाऽन्यथा कर्मादिकर्तारो मयि विषमत्वं कुर्वन्त्यतस्तेषां स्वात्मदोषेणैव बन्धादिकं भवति । ये तु मां भक्त्या स्नेहेन क्रीडारूपं ज्ञात्वा भजन्ति ते स्वभजनात्मकधर्मेण मयि तिष्ठन्ति, तेष्वहं तत्कृतितुष्टस्तिष्ठामि तेन न वैषम्यमितिभावः ॥२९॥

कर्म समर्पण से बन्धन निवृत्ति तथा असमर्पण से बन्धन होता है तो भगवान् में वैषम्य बुद्धि आयेगी । अतः कहते हैं—

मैं सब भूतों के लिये सम हूँ, मेरा न तो कोई शत्रु है और न प्रिय ।

भाव यह है कि अपनी क्रीडा के लिये समस्त भूतों को मैंने ही रचा है अतः मैं सबके लिये सम हूं । जो क्रीडार्थकता के तत्त्व को न जानकर अन्यथा कर्म करते हैं, मुझमें विषमता की बुद्धि करते हैं, उनका बन्धन उनके आत्मदोष के कारण ही होता है । जो भक्ति से, स्नेह से, मेरे क्रीडा रूप को जानकर मेरा भजन करते हैं, वे भजनात्मक धर्म से मुझमें ही स्थित रहते हैं । मैं उनमें उनके कर्त्तव्य की तुष्टि से—तुष्ट भाव से रहता हूं, अतः वैषम्य का प्रश्न ही नहीं ॥२९॥

अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

ननु ये त्वां भजन्ति तेषु चेत्त्वं तिष्ठसि कथं तदा ते विषयाद्यभिभूता भवन्तीत्यत आह । अपीति । चेत् सुदुराचारोऽपि, अनन्यभाक् मां भजते स साधुरेव मन्तव्यः । अत्रायं भावः । विषयादिमहापापौघाचरणशीलस्तन्निवृत्तिनिमित्तान्यदेवभजनप्रायश्चित्तादिधर्माऽनुरागाज्ञानेन अन्यभजनरहितस्तत्त्यागाशक्तस्तत्कर्तुकामः स्वदैन्याविर्भावेन यो मां भजते स साधुरेव मान्यः । त्वयेतिशेषः । अपिचेदित्यनेन तादृशाचारस्यानन्यभजनत्वे दुर्लभत्वं ज्ञापितम् । कुत इत्यत आह । सम्यग्व्यवसितः । स पूर्वोक्तः सम्यग्व्यवसायं निश्चयं यतः कृतवान् । यन्मम महापातकनिवारकः श्रीकृष्णं विना नान्य इति । हीति निश्चयार्थम् । अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः ॥३०॥

यदि यह कहें कि जिनमें आप रहते हैं उनकी विषयात्मिका बुद्धि क्यों होती है । अतः कहा है कि—दुराचारी भी यदि अनन्यता से मेरा भजन करता है तो वह साधु ही है । भाव यह है कि—विषयादि बड़े पापों को आचरित करने वाला, उसकी निवृत्ति के निमित्त अन्य देवों का भजन प्रायश्चित्त नहीं है । इस अज्ञान के कारण अन्य के भजन से रहित भी उस देव को त्यागने में अशक्त हुआ, दैन्य के आविर्भाव से भजन करने वाला भी साधु ही है ऐसा तुझे मानना चाहिये । ऐसा

व्यक्ति अन्य का भजन नहीं करता, वह पहले ही निश्चय कर लेता है कि मेरे पातकों को दूर करने वाले केवल श्रीकृष्ण ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥२०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

एवं प्रवृत्तस्य दुराचारादिकं नश्यतीत्याह । क्षिप्रमिति । क्षिप्रं शीघ्रं धर्मात्मा मत्सेवनयोग्यो भवति, ततः शश्वच्छान्तिं शाश्वतीं शान्तिं मद्रूपां नितरां भावात्मकत्वेन गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । तस्मात् हे कौन्तेय ! मत्कृपापात्र ! तथादुराचरणशीलेऽपि मद्भक्ते निर्दोषभावेन साधुत्वं मत्वा मद्भक्ते दोषदृष्टिषु प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु यन्मे भक्तो दुराचारादिदोषैर्न प्रणश्यति दोषा एव नश्यन्तीत्यर्थः । एवं मद्भक्ताधिक्यवर्णनेनाहं तुष्टो भविष्यामीति भावः ॥३१॥

इस प्रकार प्रवृत्त हुए व्यक्ति के दुराचार आदि नष्ट हो जाते हैं, शीघ्र ही वह धर्मात्मा मेरे पास सेवा करने का अधिकारी हो जाता है । इसके अनन्तर मेरी रूप भूत शान्ति को प्राप्त करता है ।

हे कौन्तेय ! मेरी कृपा के पात्र ! इस प्रकार के दुराचारी मेरे भक्त को निर्दोष भाव से साधु मानकर प्रतिज्ञा करलो कि मेरा भक्त दुराचार आदि दोषों से नष्ट नहीं होता,बल्कि उसके दुराचार ही नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार अपने भक्त के वैशिष्ट्य से मैं प्रसन्न होता हूँ ॥३१॥

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

नन्वेवं भक्ते हीनाधिकारित्वं स्यादित्यत आह । मां हीति । हे पार्थ ! मातृसम्बन्धेनोत्पन्नभक्तिरूप ! हीति निश्चयेन मां व्यपाश्रित्य विशेषेण आश्रित्य संसेव्य ये पापयोनयोऽपि स्युः नीचयोनयः अन्त्यजादयो म्लेच्छादयश्च स्त्रियः परतन्त्रैकयोनयो, वैश्याः केवलं कृष्यादिपरा उदरम्भराः, तथा शूद्राः शोकेन द्रवीभूता अनुपदेश्यास्तेऽपि परां गतिं मोक्षं सायुज्यं यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तत्र ये इतिपदेन स्वसेवार्थोत्पादिताऽतिरिक्ता इति ज्ञापितम् ॥ ३२ ॥

शङ्का—इस प्रकार भक्त में हीन अधिकारित्व आ जायगा, अतः कहते हैं—हे पार्थ ! मातृ सम्बन्ध से उत्पन्न भक्तिरूप ! मेरा आश्रय लेकर पाप-योनि म्लेच्छ आदि, परतन्त्रैक योनि स्त्री, कृषि आदि में परायण उदर पोषक वैश्य, शोक से द्रवीभूत होने वाले शूद्र उपदेश के योग्य नहीं हैं तथापि वे भी सायुज्य प्राप्त करते हैं । यहाँ ये शब्द से जो स्वसेवा के लिये उत्पन्न हुए हैं उनसे अतिरिक्त की सूचना दी गई है ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

यत्र हीनाधिकारिणः परमां गतिं प्राप्नुवन्ति तत्रोत्तमाधिकारिणां किं वक्तव्यमित्याह । किं पुनरिति । पुण्याः वेदोक्तमत्स्वरूपज्ञानार्थं पूर्वं वेदाध्ययनकारिणो ब्राह्मणाः, तथा पुण्यधर्मादिकरणेन प्रजाप्रतिपालकाः राजर्षयः राजानः क्षत्रिया भूत्वा ऋषयः ब्रह्मकर्मनिष्ठा उत्तमाधिकारिणो भक्ताः सन्तः परां गतिं प्राप्नुवन्तीति किं पुनर्वक्तव्यम् । तेषां तु साक्षाद्भजनौपयिकत्वमेव भवतीति भावः । एतेन उत्तमाधिकारिणां तु भवत्येव यत्र हीनाधिकारिणामपि भवतीत्यनेन "अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिरित्ययं" न्यायः प्रदर्शितः । एतेनोत्तमानामेतदभावे हीनत्वमेवेति व्यञ्जितम् । यत उत्तमाधिकारिणामावश्यकमतस्तत्र क्षत्रियत्वात् स्वधर्मनिष्ठत्वाद् भक्तपुत्रत्वाच्चोत्तमाधिकारित्वेना-

वध्यं कर्तव्यमित्याह । अनित्यमिति । इमं लोकमधिकरणं देहं प्राप्य अनित्यं असुखं संसारं त्यक्त्वा ज्ञात्वा वेतिशेषः, मां भजस्व ॥३३॥

हीनाधिकारियों की उत्तम गति कही, फिर उत्तम अधिकारियों की महिमा का तो कथन ही क्या है ?

वेदोक्त मेरे स्वरूप के ज्ञान के लिये वेदाध्ययन परायण ब्राह्मण, पुण्य धर्मादि करने से प्रजापालक राजर्षि, ब्रह्मकर्म में निष्ठ उत्तमाधिकारी भक्त परमगति प्राप्त करते ही हैं । वे साक्षात् भजन के उपयोगी हैं । यहाँ यह न्याय दिखलाया है कि—'जो यहां अधिक अनुप्रविष्ट है उसकी हानि नहीं है ।' उत्तमों में इसके अभाव में हीनत्व ही है, यह व्यङ्ग्य है । उत्तम अधिकारी होने के कारण, क्षत्रिय होने के कारण स्वधर्म में निष्ठा, भक्त पुत्र होने के कारण उत्तमाधिकारित्व से अवश्य करना चाहिये, अतः कहा है—इस देह को प्राप्त कर अनित्य दुःखपूर्ण संसार का परित्याग कर या जानकर मेरा भजन कर ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

भजने प्रकारमाह । मन्मना इति । मय्येव मनो यस्य तादृशो भूत्वा मद्भक्तो मयि स्नेहयुक्तश्च सन् मद्याजी मत्पूजकः परिचर्याकरणशीलो मां नमस्कुरु । मनोनिवेशनेन मनोभजनमुक्तम् । पूजनेन कायिकम् । नमनोक्त्या वाचिकम् । ततः कायवाङ्मनोभिर्भजनं कुर्वित्युक्तम् । एवं मत्परायणः सन् आत्मानं मयि युक्त्वा युक्तं कृत्वा अवश्यं मामेव पुरुषोत्तमम् । एष्यसि प्राप्स्यसि । एवकारेणाक्षरांशादिप्राप्तिर्निवारिता ॥३४॥

एवं स्वभक्तिमाहात्म्यं भजनार्थं समाधनम् ।
प्रोवाच नवमेऽध्याये श्रीकृष्णो ह्यर्जुनाय तु ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरंगिण्यां नवमोऽध्यायः ॥९॥

भजन का मार्ग—मुझ में मन लगाकर, मुझसे स्नेह कर, पूजा कर, नमस्कार कर । यहां मनोनिवेशन से मन का भजन बतलाया है तथा पूजन से कायिक, नमन से वाचिक भजन कहा है । काया वाणी और मन से भजन कर । मुझ में लीन होकर मुझमें अपनी आत्मा को युक्त कर अवश्य मुझ पुरुषोत्तम को प्राप्त कर लेगा । एवकार शब्द से अक्षरांशादि की निवृत्ति कही गई है ॥३४॥

का०—नवमाध्याय में कृष्ण ने अर्जुन को साधन सहित भक्ति का माहात्म्य भजन के हेतु वर्णित किया है ।

श्रीभगवद्गीता रूप उपनिषद् के ब्रह्मविद्या विषयक योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद में भक्ति योग का नवम अध्याय, संस्कृत की अमृततरङ्गिणी टीका तथा उसकी श्रीधरी नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥९॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

दशम अध्याय

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

नवमे भक्तिरूपं यदुक्तं तत्सिद्धये हरिः ।
स्वविभूतिस्वरूपं च कृपया दशमेऽब्रवीत् ॥

पूर्वाध्याये सर्वकर्मसमर्पणमुक्तं ततश्च भक्तिकरणमाज्ञप्तं । तच्च स्वरूपाज्ञानेन कृतमप्यकृतप्रायमिति स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपं स्वविभूतिरूपं वदन् पार्थं श्रवणार्थं सावधानतया सन्मुखीकुर्वन् प्रतिजानीते । श्रीभगवानुवाच । भूय एवेति । हे महाबाहो ! भजनौपयिककृपाशक्तिमन् ! भूय एव पुनरपि मम वचनश्रवणेन प्रीयमाणाय परमानन्दं प्राप्नुवन्ते ते हितकाम्यया यदहं वक्ष्यामि तत् परमं परो मीयते ज्ञायतेऽनेनेति परमार्थरूपमुत्कृष्टं मे वचः शृणु ! प्रीयमाणायेति पदेनान्येभ्योऽवक्तव्यत्वं गोप्यत्वं च ज्ञापितम् । हितकाम्ययेतिपदेन परमकृपा दर्शिता ॥१॥

कारिका—भगवान् हरि ने नवमाध्याय में भक्तिरूप को बतलाया था, अब उसकी सिद्धि के लिये विभूति स्वरूप को बतलाते हैं । पूर्वाध्याय में सर्व कर्म समर्पण तथा भक्तिकरण बतलाया था, उस स्वरूप को बिना जाने कृत भी अकृतप्राय है । अतः स्वरूप ज्ञानार्थ अपनी विभूतियों को बतलाते हुए अर्जुन को सावधान किया है । वे कहते है—हे महाबाहो ! भजनोपयोगी कृपाशक्तिधारक ! मेरे वचनों से आनन्द प्राप्त करने वाले, तुझे हित की कामना से पुनः उपदेश देता हूँ, उसे सावधानी पूर्वक सुन । प्रीयमाण पद यह व्यक्त कर रहा है कि यह ज्ञान गोप्य है । 'हितकाम्यया' पद द्वारा अपनी कृपा भी प्रदर्शित की है ॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

अथ स्वकृपां विना अस्योक्तस्वस्वरूपस्यातिदुर्ज्ञेयत्वेन दुर्लभत्वमाह । न मे इति । मे मम प्रभवं प्रकृष्टं भवं जन्म प्रादुर्भावमिति यावत् सुरगणा ब्रह्मेन्द्रादयः, महर्षयो भृग्वादयो न विदुः न जानन्ति । अहं देवानां ब्रह्मादीनां सर्वशः सर्वप्रकारैः आधिदैविकत्वेन देवत्वेन च आदिः मूलभूतः । च पुनस्तथैव महर्षीणाम् । हीति निश्चयेन सन्देहाभावार्थं देवत्वाद् ऋषित्वात् स्वमूलभूतत्वेन ज्ञानमावश्यकं तथापि भूभारहरणार्थं स्वरक्षार्थं धर्मरक्षार्थं प्रादुर्भावं जानन्ति परं यदर्थं यद्रूपश्च प्रादुर्भावस्तं मत्कृपां विना न जानन्तीति भावः ॥२॥

भगवान् की कृपा के बिना यह ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है, अतः कहा है कि—मेरे जन्म को ब्रह्मा, इन्द्र आदि देव, भृगु आदि महर्षि भी नहीं जानते । मैं ब्रह्मादि देवों से भी पुरातन हूँ, उनका मूलभूत हूँ । और महर्षियों का भी । वे लोग भू भार हरणार्थ, स्वरक्षार्थ, धर्म रक्षार्थ मेरा प्रादुर्भाव जानते हैं, परन्तु भक्तियोग प्रसारार्थ जो मेरा रूप है उसे मेरी कृपा के बिना नहीं जान सकते ॥२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

एवं स्वकृपां विना स्वाज्ञानात् देवानां देवत्वमपि जातं व्यर्थमेवेत्युक्त्वा स्वकृपया ज्ञानेन मनुष्याणामप्युत्तमत्वं भवतीत्याह । यो मामजमिति । यो मां मनुष्येषु च अजं जन्मादिदोषरहितं, अनादिं, लौकिकविभिन्नित्यमेवं-

भूतमेव लोकमहेश्वरं लोकानां परमेश्वरं कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थम्। असंमूढः प्रमादरहितः सन् जानाति स सर्वपापैः मद्भक्तिप्रतिबन्धरूपैः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुच्यते मनुष्यभावरहितो देवरूपो भवतीत्यर्थः ॥३॥

बिना भगवान् की कृपा के देवों का देवत्व भी व्यर्थ है और कृपापात्र मनुष्यत्व भी श्रेष्ठ है। अतः कहा है—मुझे मनुष्यों में जो जन्मादि दोष रहित, अनादि, लीला द्वारा नित्यभूत, लोक महेश्वर परमेश्वर, कर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ जानता है वह प्रमाद रहित व्यक्ति मेरी भक्ति में आने वाले प्रतिबन्धों से मुक्त हो जाता है। अर्थात् मनुष्य भाव को परित्याग कर देवरूप हो जाता है ॥३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

एवं ये जानन्ति तेषामन्येषामजानतां च सर्वेश्वरत्वात् मत्त एव नानाविधा भावास्तत्तज्ज्ञानानुरूपा भवन्तीत्याह द्वयेन। बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह इति। बुद्धिः धर्मज्ञानकौशलं, ज्ञानं स्वरूपात्मकं, असम्मोहो मायाविलासेषु, क्षमा दुष्टादिकृतिसहिष्णुता, सत्य आपदादिष्वपि यथार्थभाषणं, दम इन्द्रियनिग्रहः, शमः परमानन्दादिरूपा शान्तिः, सुखं मद्भावानन्दरूपं, दुःखं आनन्दतिरोधानात्मकं, भवः संसारात्मकः, अभावो नाशः, भयं मृत्युकालादीनां, चकारेण यमयातनादयः, अभयं मच्चरणाप्त्या कालादिभयाभावः ॥४॥

जो मुझे इस प्रकार जानते हैं, उनमें सर्वेश्वर होने के कारण मुझसे ही अनेक प्रकार के ज्ञानानुरूप भाव होते हैं। इसे वे दो श्लोकों से स्पष्ट करते हैं—धर्म ज्ञान कौशल बुद्धि, स्वरूपात्मक ज्ञान, मायाविलास में मोहाभाव, दुष्टकृत सहिष्णुता, क्षमा, आपत्ति में भी यथार्थ भाषणरूप सत्य, इन्द्रिय-निग्रह वाला दम, परमानन्द शान्तिरूप शान्ति वाला शम, मेरे भाव का आनन्दरूप सुख, आनन्द-तिरोधानात्मक दुःख, संसारात्मक भव, अभाव रूप नाश, मृत्युकालादि जनित भय, चकार से यमयातना आदि, मेरे चरणों को प्राप्त कर कालादि के भय का अभाव वाला अभय ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

अहिंसा दयात्मिका, समता सर्वत्र मद्भावः, तुष्टिः सदामद्भावसन्तोषः, तपो मदर्थक्लेशसहनं, दानं मदुपदेशादीनां, यशो मत्सेवकत्वेन सत्कीर्तिः, अयशो दुष्टत्वादिलक्षणात्मिकाऽपकीर्त्तिः, भूतानाम् एते भावाः पृथग्विधाः भिन्नाः मत्कृपाविशिष्टमज्ज्ञानवतां बुद्ध्यादयः सर्वे भवन्ति। अन्येषामयशः सहितदुःखादिचतुष्टया भावा भवन्तीतिभावः ॥५॥

दयात्मिका अहिंसा, सर्वत्र मद्भाव वाली समता, मद्भाव सन्तोष वाली तुष्टि, मेरे लिये कष्ट सहन रूप तप, मेरे उपदेशों का दान, मेरी सेवा करने से उपलब्ध कीर्ति रूप यश, अपकीर्ति रूप अयश आदि भाव भिन्न-भिन्न ज्ञान वालों की बुद्धि में होते हैं, परन्तु उन पर मेरी कृपा होना आवश्यक है। जो मेरी दया रहित हैं, उनको दुःख, भव—अभाव—भय सहित अयश ही मिलता है ॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

ननु कृष्यादिप्रयुक्तधर्माचरणादिभिः सर्वेषां तत्तत्फलरूपा भावा भवन्ति तत्कथं भवत्त एवेत्याकांक्षायामाह। महर्षय इति। महर्षयः सप्त भृग्वादयस्ततः पूर्वे अन्ये चत्वारो महर्षयस्तथा स्वायंभुवादयो मनवः, हिरण्यगर्भात्मनो मम मानसा मद्भावा मदीयोऽनुभावो मत्क्रीडार्थरूपो येषु तादृशा जाताः। येषां लोके इमाः प्रजास्तदुक्तप्रवर्तमाना भवन्तीत्यर्थः। अतोऽपि मत्त एव भवन्तीतिभावः ॥६॥

शङ्का—ऋषि आदि भी धर्माचरण से हैं और उनसे तत्तत् फल रूप भाव भी होते हैं तो आप से ही क्यों होते है ? कहते हैं—भृगु आदि सात महर्षि अन्य चार ऋषि तथा स्वायंभुव आदि मनु, हिरण्यगर्भादिक मेरे ही मानस-भाव से, मेरी ही क्रीडा के लिये उत्पन्न हुए हैं। लोक की प्रजा के प्रवर्तक भी वही हैं। ये सब मुझसे ही हैं ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

एतन्निरूपणप्रयोजनमाह। एतामिति। एतां मदनुभावरूपां भृग्वादिलक्षणां तां मम विभूतिं क्रीडार्थैकप्रकटिततां। च पुनः क्रीडार्थप्रकटितसामग्र्या मम योगं तत्त्वतः मल्लीलारूपेण यो वेत्ति सः, अविकल्पेन निश्चलेन मद्वियोगादिरहितेन योगेन मत्संयोगेन भक्तिरूपेण युज्यते युक्तो भवतीत्यर्थः। नात्र संशयः, अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः। अनेन संदेहे सति न भवतीति ज्ञापितम् ॥७॥

निरूपण का प्रयोजन बतलाते हैं—इस भृगु आदि वाली विभूति को जिसे मैंने क्रीडार्थ प्रकट किया है, क्रीडार्थ प्रकटित मेरी सामग्री से युक्त करके जो तत्त्वतः जानता है, वह निश्चय ही मेरे संयोग रूप भक्ति रूप को प्राप्त करता है। इसमें संशय नहीं है। सन्देह होने पर यह भाव नहीं होता ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

एवंज्ञानिनो भक्तियुक्तत्वं विशदयति। अहमिति। चतुर्भिः। अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः उत्पत्तिस्थानं, सर्वं जगत् मत्तः 'बुद्धिर्ज्ञानं'इत्यादिरीत्या भृग्वाद्युक्तधर्मादिरीत्या च प्रवर्तते मत्क्रीडार्थकभावयुक्तं भवतीत्यर्थः।

भावसमन्विताः मत्सेवनैकप्रयत्नवन्तः सन्तो बुधाः पण्डिता विवेकिनः इति-अमुना प्रकारेण क्रीडात्मकतया प्रकटीभूतरूपं मां भजन्ते सेवन्ते ॥८॥

इस प्रकार ज्ञानी की भक्तियुक्तता चार श्लोकों से दिखलाते हैं। मैं इस सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति स्थान हूँ, यह सम्पूर्ण जगत् बुद्धि ज्ञान इत्यादि रीति से, भृगु आदि उक्त धर्मादि रीति से प्रवृत्त होता है। मेरे क्रीडार्थक भाव से युक्त होता है, यह अर्थ है। भाव समन्वित मेरी सेवा से ही प्रयत्नशील पण्डित लोग इस प्रकार क्रीडात्मकता से प्रकटीभूत रूप वाले मुझको भजते हैं ॥८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

भजने प्रकारमाह। मच्चित्ता इति। मय्येव चित्तं येषां ते मच्चिन्तनपराः। लीलावस्थमत्स्वरूपविचारणपराः। मद्गतप्राणाः मय्येव गताः प्राणा येषां ते, मद्दुःखदुःखिता मत्सुखसुखिता इत्यर्थः। तादृशाः सन्तः परस्परं तादृशानेव मामेतादृशं स्वानुभवप्रमाणादिभिर्बोधयन्तस्तदनुकथयन्तः कीर्तनरीत्या कीर्तयन्तः। चकारेणाऽन्यकीर्तनं शृण्वन्तः। च पुनः। तज्ज्ञाने सति तुष्यन्ति ज्ञानेन वा रमन्ते च। स्वयं कीर्तनेनानन्दयुक्ता भवन्ति रमन्ते वा। तोषमानन्दं च प्राप्नुवन्तीतिभावः। यद्वा मां विप्रयोगादिलीलावस्थासु नित्यं कथयन्तः सततं परस्परं बोधयन्तः ॥९॥

भजन प्रकार बतलाते हैं—मेरे चिन्तन में लीन, लीलावस्था में भी मेरे स्वरूप विचार में तत्पर, मुझमें ही प्राण रखनेवाले, मेरे दुःख में दुःखी, मेरे सुख में सुखी होते हुए मेरे लीलावस्था में उन-उन अनुभव प्रमाण आदि के द्वारा बोध कराते हुए रमण करते हैं। आनन्द प्राप्त करते हैं। अथवा मुझको विप्रयोग आदि लीलावस्था में नित्य निरूपण करते हुए परस्पर ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥९॥

भूतमेव लोकमहेश्वरं लोकानां परमेश्वरं कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थम्। असंमूढः प्रमादरहितः सन् जानाति स सर्वपापैः मद्भक्तिप्रतिबन्धकरूपैः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुच्यते मनुष्यभावरहितो देवरूपो भवतीत्यर्थः ॥३॥

बिना भगवान् की कृपा के देवों का देवत्व भी व्यर्थ है और कृपापात्र मनुष्यत्व भी श्रेष्ठ है। अतः कहा है—मुझे मनुष्यों में जो जन्मादि दोष रहित, अनादि, लीला द्वारा नित्यभूत, लोक महेश्वर परमेश्वर, कर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ जानता है वह प्रमाद रहित व्यक्ति मेरी भक्ति में आने वाले प्रतिबन्धों से मुक्त हो जाता है। अर्थात् मनुष्य भाव को परित्याग कर देवरूप हो जाता है ॥३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

एवं ये जानन्ति तेषामन्येषामजानतां च सर्वेश्वरत्वात् मत्त एव नानाविधा भावास्तत्तज्ज्ञानानुरूपा भवन्तीत्याह द्वयेन। बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह इति। बुद्धिः धर्मज्ञानकौशलं, ज्ञानं स्वरूपात्मकं, असम्मोहो मायाविलासेषु, क्षमा दुष्टादिकृतिसहिष्णुता, सत्यं आपदादिष्वपि यथार्थभाषणं, दम इन्द्रियनिग्रहः, शमः परमानन्दात्मिका शान्तिः, सुखं मद्भावानन्दरूपं, दुःखं आनन्दतिरोधानात्मकं, भवः संसारात्मकः, अभावो नाशः, भयं मृत्युकालादीनां, चकारेण यमयातनादयः, अभयं मच्चरणाप्त्या कालादिभयाभावः ॥४॥

जो मुझे इस प्रकार जानते हैं, उनमें सर्वेश्वर होने के कारण मुझसे ही अनेक प्रकार के ज्ञानानुरूप भाव होते हैं। इसे वे दो श्लोकों से स्पष्ट करते हैं—धर्म ज्ञान कौशल बुद्धि, स्वरूपात्मक ज्ञान, मायाविलास में मोहाभाव, दुष्टकृत सहिष्णुता, क्षमा, आपत्ति में भी यथार्थ भाषणरूप सत्य, इन्द्रिय-निग्रह वाला दम, परमान[illegible] शान्तिरूप शान्ति वाला शम, मेरे भाव का आनन्दरूप सुख, आनन्द-तिरोधा[illegible]क दुःख, संसारात्मक भव, अभाव रूप नाश, मृत्युकालादि जनित भय,

चकार से यमयातना आदि, मेरे चरणों को प्राप्त कर कालादि के भय का अभाव वाला अभय ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

अहिंसा दयात्मिका, समता सर्वत्र मद्भावः, तुष्टिः सदामद्भावसन्तोषः, तपो मदर्थक्लेशसहनं, दानं मदुपदेशादीनां, यशो मत्सेवकत्वेन सत्कीर्तिः, अयशो दुष्टत्वादिलक्षणात्मिकाऽपकीर्तिः, भूतानाम् एते भावाः पृथग्विधाः भिन्नाः मत्कृपाविशिष्टमज्ज्ञानवतां बुद्ध्यादयः सर्वे भवन्ति। अन्येषामयशः सहितदुःखादिचतुष्टया भावा भवन्तीतिभावः ॥५॥

दयात्मिका अहिंसा, सर्वत्र मद्भाव वाली समता, मद्भाव सन्तोष वाली तुष्टि, मेरे लिये कष्ट सहन रूप तप, मेरे उपदेशों का दान, मेरी सेवा करने से उपलब्ध कीर्ति रूप यश, अपकीर्ति रूप अयश आदि भाव भिन्न-भिन्न ज्ञान वालों की बुद्धि में होते हैं, परन्तु उन पर मेरी कृपा होना आवश्यक है। जो मेरी दया रहित हैं, उनको दुःख, भव—अभाव—भय सहित अयश ही मिलता है ॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

ननु कृष्यादिप्रयुक्तधर्माचरणादिभिः सर्वेषां तत्तत्फलरूपा भावा भवन्ति तत्कथं भवत एवेत्याकांक्षायामाह। महर्षय इति। महर्षयः सप्त भृग्वादयस्ततः पूर्वे अन्ये चत्वारो महर्षयस्तथा स्वायंभुवादयो मनवः, हिरण्यगर्भात्मनो मम मानसा मद्भावा मदीयोऽनुभावो मत्क्रीडार्थरूपो येषु तादृशा जाताः। येषां लोके इमाः प्रजास्तदुक्तप्रवर्तमाना भवन्तीत्यर्थः। अतोऽपि मत्त एव भवन्तीतिभावः ॥६॥

शङ्का— भृगु आदि भी धर्माचरण में हैं और उनसे तत्तत् फल रूप भाव भी होते हैं तो आप से ही क्यों होते हैं ? कहते हैं—भृगु आदि सात महर्षि अन्य चार ऋषि तथा स्वायंभुव आदि मनु, हिरण्यगर्भात्म मेरे ही मानस-भाव से, मेरी ही क्रीडा के लिये उत्पन्न हुए हैं। लोक की प्रजा के प्रवर्तक भी वही हैं। ये सब मुझसे ही हैं ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

एतन्निरूपणप्रयोजनमाह । एतामिति । एतां मदनुभावरूपां भृग्वादिलक्षणां तां मम विभूतिं क्रीडार्थैकप्रकटितां । च पुनः क्रीडार्थप्रकटितसामग्र्या मम योगं तत्त्वतः मल्लीलारूपेण यो वेत्ति सः, अविकम्पेन निश्चलेन मद्वियोगादिरहितेन योगेन मत्संयोगेन भक्तिरूपेण युज्यते युक्तो भवतीत्यर्थः । नात्र संशयः, अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः । अनेन संदेहे सति न भवतीति ज्ञापितम् ॥७॥

निरूपण का प्रयोजन बतलाते हैं—इस भृगु आदि वाली विभूति को जिसे मैंने क्रीडार्थ प्रकट किया है, क्रीडार्थ प्रकटित मेरी सामग्री से युक्त करके जो तत्वतः जानता है, वह निश्चय ही मेरे संयोग रूप भक्ति रूप को प्राप्त करता है। इसमें संशय नहीं है। सन्देह होने पर यह भाव नहीं होता ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

एवंज्ञानिनो भक्तियुक्तत्वं विशदयति । अहमिति । चतुर्भिः । अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः उत्पत्तिस्थानं, सर्वं जगत् मत्तः 'बुद्धिर्ज्ञान'मित्यादिरीत्या भृग्वाद्युक्तधर्मादिरीत्या च प्रवर्तते मत्क्रीडार्थकभावयुक्तं भवतीत्यर्थः । भावसमन्विताः मत्सेवनैकप्रयत्नवन्तः सन्तो बुधाः पण्डिता विवेकिनः इति— अमुना प्रकारेण क्रीडात्मकतया प्रकटीभूतरूपं मां भजन्ते सेवन्ते ॥८॥

इस प्रकार ज्ञानी की भक्तियुक्तता चार श्लोकों से दिखलाते हैं। मैं इस सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति स्थान हूँ, यह सम्पूर्ण जगत् बुद्धि ज्ञान इत्यादि रीति से, भृगु आदि उक्त धर्मादि रीति से प्रवृत्त होता है। मेरे क्रीडार्थक भाव से युक्त होता है, यह अर्थ है। भाव समन्वित मेरी सेवा से ही प्रयत्नशील पण्डित लोग इस प्रकार क्रीडात्मकता से प्रकटीभूत रूप वाले मुझको भजते हैं ॥८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

भजने प्रकारमाह । मच्चित्ता इति । मय्येव चित्तं येषां ते मच्चिन्तनपराः । लीलावस्थमत्स्वरूपविचारणपराः । मद्गतप्राणाः मय्येव गताः प्राप्ताः प्राणा येषां ते, मद्दुःखदुःखिता मत्सुखसुखिता इत्यर्थः । तादृशाः सन्तः परस्परं तादृशानेव मामेतादृशं स्वानुभवप्रमाणादिभिर्बोधयन्तस्तदनुकथयन्तः कीर्तनरीत्या कीर्तयन्तः । चकारेणाऽन्यकीर्त्तनं शृण्वन्तः । च पुनः । तद्ध्याने सति तुष्यन्ति ज्ञानेन वा रमन्ते च । स्वयं कीर्त्तनेनानन्दयुक्ता भवन्ति रमन्ते वा । तोषमानन्दं च प्राप्नुवन्तीतिभावः । यद्वा मां विप्रयोगादिलीलावस्थासु नित्यं कथयन्तः सततं परस्परं बोधयन्तः ॥९॥

भजन प्रकार बतलाते हैं—मेरे चिन्तन में लीन, लीलावस्था में भी मेरे स्वरूप विचार में तत्पर, मुझमें ही प्राण रखनेवाले, मेरे दुःख में दुःखी, मेरे सुख में सुखी होते हुए मेरे लीलावस्था में उन-उन अनुभव प्रमाण आदि के द्वारा बोध कराते हुए रमण करते हैं। आनन्द प्राप्त करते हैं। अथवा मुझको विप्रयोग आदि लीलावस्था में नित्य विज्ञप्त करते हुए परस्पर ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

एवंभावेन भजतामहं फलं ददामीत्याह । एवमिति । एवं अमुना प्रकारेण सततयुक्तानां निरन्तरं मत्कृपाविशिष्टानां प्रीतिपूर्वकं अनुद्वेगेन भजतां तं बुद्धियोगं मत्स्वरूपानुभवात्मकभक्त्युपायरूपं ददामि येन ते माम् उपयान्ति प्राप्नुवन्ति । उपसर्गेण तथा यान्ति यथा तद्भावच्युतिः कदापि न भवतीति ज्ञापितम् ॥१०॥

इस प्रकार भजन करने वालों को मैं फल प्रदान करता हूँ । अर्थात् मेरे कृपा विशिष्ट व्यक्ति प्रीति पूर्वक उद्वेग रहित होकर मेरे स्वरूपानुभव वाली भक्ति उपाय स्वरूप प्राप्त करते हैं जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं । उपसर्ग का 'उप' इसका द्योतन कराता है कि वे इस प्रकार प्राप्त करते हैं कि बाद में कभी च्युत ही नहीं होते ॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

नन्वन्यबोधने तेषामशक्यत्वाद्बहुकालव्यासंगेन सेवाविप्रयोगक्लेशः स्यादिति कथं बोधनं स्यादित्याशंक्याह । तेषामेवेति । तेषामेव भक्तानामेव अनुकम्पार्थं मत्सेवाविप्रयोगक्लेशाभावार्थम्, आत्मभावस्थेषु तेषु स्वीयत्वभावयुक्तोऽहमन्येषामज्ञानजं तमः संसारात्मकं भास्वतास्फुरद्रूपेण ज्ञानदीपेन नाशयामि । ततः संसाराज्ञानविमुक्तानां शीघ्रं स्वरूपबोधात् पुनः परस्परं मद्गुणकथनेन परमानन्द एव भवति नतु क्लेश इति भावः ॥११॥

अन्यों को ज्ञान देने से सेवा वियोग का क्लेश भी तो होगा इस आशंका से कहते हैं—भक्तों पर कृपा करने के हेतु ही अनुकम्पा करता हूँ जिससे उनको सेवा वियोग का क्लेश न हो । उनकी आत्मा में स्थित हुआ मैं अज्ञानज तम को ज्ञान रूपी दीप से नष्ट कर देता हूँ । संसार के अज्ञान से जो छूट जाते हैं, उन्हें शीघ्र ही स्वरूप बोध हो जाता है फिर मेरे गुणों का गान करने से परम आनन्द ही प्राप्त होता है । क्लेश प्राप्त नहीं होता ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

एवं 'न मे विदुः सुरगणा' इत्यादिना सर्वेषां स्वाऽवेदनयुक्तानां 'यो मामजमनादिं च' इत्यादिना स्वज्ञानस्योत्तमत्वं प्रतिपादितम् । ततः सर्वभावोत्पत्तिः स्वत उक्ता स्वरूपा वा । स्वस्वविभूतिज्ञस्य स्वभजने स्वप्राप्तिमुक्तवान् । एतत्सर्वं बिज्ञासुरर्जुनः प्रभुं विज्ञापयति सप्तभिः । विज्ञप्तेरपि भगवदात्मत्वात् षड्गुणधर्मिसमसंख्यैः श्लोकैर्विज्ञापयति । अर्जुन उवाच । परं ब्रह्मेति । परं पुरुषोत्तमाख्यं ब्रह्म बृहद्व्यापकं परं धाम पुरुषोत्तमात्मकतेजोरूपं रमणात्मगृहात्मकं वा । परमं पवित्रं सर्वोत्कृष्टं सर्वपावनम् । एतत्सर्वरूपो भवान् सत्यमेवेत्यर्थः । कथमेवमवगतमित्यत आह । पुरुषमिति । पुरुषं पुरुषोत्तमम् । अन्यत्रापि तथात्वमाशंक्य शाश्वतं नित्यमिति । अक्षरादिष्वपि नित्यत्वमाशंक्य दिव्यमित्याह क्रीडनैकरूपम् । अवतारादिष्वपि तथात्वमाशंक्याह । आदिदेवमिति । मूलरूपमित्यर्थः । परिदृश्यमानजन्माद्याशंकायामाह । अजमिति । जन्मरहितम् । जन्माऽभावे जन्मप्रतीतिः कथमित्यत आह । विभुमिति । समर्थमित्यर्थः । तथाप्रतीतिकरणसमर्थमिति भावः ॥१२॥

"न मे विदुः सुरगणा" से अपने को देवों द्वारा न जानने तथा 'यो मामजमनादि च' से अपने ज्ञान की उत्तमता का वर्णन किया और सर्वभाव की उत्पत्ति भी निरूपित की । विभूति के भजन द्वारा भी भगवान् ने अपनी प्राप्ति बतलाई । इस सबको जानने के लिये अर्जुन ने सात श्लोकों द्वारा भगवान् से पूछा । भगवान् षड्गुण सम्पन्न हैं अतः छः श्लोक कहे तथा विज्ञप्ति भी भगवदात्मक है अतः सात श्लोकों से प्रश्न किया है । अर्जुन ने कहा—आप पुरुषोत्तमाख्य व्यापक ब्रह्म हैं,

पुरुषोत्तमात्मक तेजोरूप हैं, सबसे पवित्र हैं, शाश्वत हैं, क्रीडनैक रूप हैं, सब देवों के मूलभूत हैं, जन्म रहित, समर्थ भी हैं। समर्थ का तात्पर्य यह है कि जब आपका जन्म ही नहीं होता तो सर्वप्रतीति कैसे होगी? यहाँ अप्रतीतिकरण समर्थ को भी जानना चाहिये ॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः स देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

एवंविधं त्वां सर्वे वदन्तीत्यनेनावगतमित्याह। आहुरिति। सर्वे ऋषयो भृग्वादयः तथा देवर्षिः देवानामपि मन्त्रद्रष्टा नारदः सर्वमोक्षदः। असितः भगवद्धर्मरूपः। देवलः देवानुग्रहकृत्। व्यासः ज्ञानावतारः। च पुनः स्वयमेव त्वमेव साक्षान्मे मह्यम् 'अहमादिर्हि देवानामि'त्यादिना ब्रवीषि। अतस्त्वां तथा जानामीत्यर्थः ॥१३॥

इस प्रकार आपको सब बतलाते हैं—भृगु आदि ऋषि, देवर्षि, मन्त्र द्रष्टा, नारद मोक्षदाता, भगवद्धर्म रूप असित, देवानुग्रहकृत् देवल, ज्ञानावतार व्यास भी आपको ही जानते हैं, 'अहमादिर्हि देवानाम्' से आपने उपदेश दिया है अतः मैं भी आपको जानता हूँ ॥१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

परोक्ते स्वानुभवाभावे न विश्वासः स्यादित्यत आह। सर्वमेतदिति। सर्वं पूर्वोक्तं 'परब्रह्म'त्यादि अहं स्वानुभवात् ऋतं सत्यं मन्ये। किञ्च। न मे विदुरित्यादिना देवाः क्रीडारूपाः। दानवाविरोधेऽपि मोक्षदातुः हे भगवन्! ते व्यक्तिं प्राकट्यं स्वरूपं वा न विदुरिति केशव! दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक! यत् मां वदसि एतत्सर्वं हि निश्चयेन ऋतं मन्ये ॥१४॥

अपने अनुभव के बिना विश्वास नहीं होता अतः अर्जुन कहता है—परब्रह्म आदि श्लोक में भी आपने अपना रूप बतलाया है, मैं अनुभव रहित होकर भी उसे सत्य मानता हूँ। 'न मे विदुः' श्लोक से आपने देवों को क्रीडा रूप माना है। दानवों के अविरोध में भी मोक्षदायी भगवान् आपके प्राकट्य को नहीं जानते। हे केशव! दुष्ट गुणों से व्याप्त को भी मोक्ष देने वाले, आप जो भी मुझसे कह रहे हैं, मैं उसे सत्य मानता हूँ ॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

यतोऽन्ये न विदुरतः स्वस्वरूपं स्वयमेव जानासीत्याह। स्वयमेवेति। स्वयं स्वेच्छयैव, न केनचित् प्रेरितः। आत्मना स्वस्वरूपेणैव आत्मानं यादृशोऽसि तादृशं त्वमेव वेत्थ जानासीत्यर्थः। अन्यथाज्ञानहेतुभूतत्वेन सम्बोधयति। हे पुरुषोत्तम! केन कथं वा ज्ञातुं योग्य इत्यर्थः। अतएव ब्रह्माण्डपुराणे 'नैव भावयितुं योग्यः केनचित् पुरुषोत्तम' इत्युक्तम्। ननु तर्हि 'यो मामजमनादिं च वेत्तीति' कथमुक्तमित्याशङ्क्य तत्कृपया स्वज्ञापनात्मकस्वशक्तिदानेन ज्ञापयतीति 'ददामि बुद्धियोगं तमि'त्यादिनोक्तम्। तथात्वेनैव सम्बोधयन्नाह। भूतभावनेत्यादिभिः। हे भूतभावन! भूतानि भावयसि स्वभावयुक्तानि करोषीति तथा। कथमेवं करोषीत्यत आह। भूतेश! तेषां स्वामी नियामकः तेन स्वीयत्वेन करोतीतिभावः। ईशत्वेऽपि कथमेवं करोषीत्यत आह। देवदेव! पूज्यानामपि पूज्य! तत्पूजादिसन्तुष्टस्तथा करोतीतिभावः। तर्हि देवेष्वेव तथोचितं न तु सर्वेष्वित्यत आह। जगत्पते इति। जगतः सर्वस्यैव पतिः पालको रक्षक इति यावत्। रक्षार्थं तथा करोतीतिभावः ॥१५॥

अन्य लोग आपके स्वरूप को नहीं जानते, आप ही अपने स्वरूप को जानते हैं। हे पुरुषोत्तम! कौन आपको कैसे जाने? इसलिये ब्रह्माण्ड पुराण में लिखा है कि 'पुरुषोत्तम को कोई नहीं समझ सकता है।' यदि यह कहें कि तब तो विरोध पड़ेगा

क्योंकि अभी गीता में भगवान् ने कहा है कि 'योमामजमनादिं च' आशय यह है कि भगवान् को उनकी कृपा द्वारा ही समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि यह भी तो लिखा है कि "ददामि बुद्धियोगं" बुद्धिदाता होने के कारण ही अर्जुन सम्बोधन देता है—हे भूतभावन! भूतों को स्वभाव से युक्त करने वाले, भूतों के स्वामी, पूज्यों के भी पूज्य, सबके पालक, रक्षा के लिये ही ऐसा करते हो। यह भाव है ॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

एवं सम्बोध्य जगत्पतित्वेन स्वस्यापि पतित्वं सम्प्रार्थ्येदानीं स्वांऽयत्नेनानुग्रहं कुरु यथाऽहं पूर्वोक्तं त्वत्स्वरूपं ज्ञात्वा प्रपन्नो भवामीत्याह ॥ वक्तुमर्हसीति। दिव्याः क्रीडारूपाः। आत्मविभूतयः स्वविभूतयः कार्यार्थं स्वयमेवाकृताः। अशेषेण वक्तुं त्वमेवार्हसि योग्योऽसि। योग्यत्वोक्त्या विभूतिज्ञानमपि नान्यस्य यत्र तत्र साक्षात् त्वद्ज्ञाने किं वाच्यमिति व्यञ्जितम्। यतस्त्वमेव योग्योऽस्यतः कृपया वदेतिभावः। याभिर्विभूतिभिः इमान् लोकान् व्याप्य स्वैश्वर्येणाङ्गीकृत्य तिष्ठसि ता वक्तुमर्हसीत्यर्थः ॥१६॥

भगवान् जगत्पति हैं, अतः वे अर्जुन के भी स्वामी हैं, इसे स्पष्ट करके अपनेपन के कारण वह अनुग्रह कामना करता है कि मैं आपके पूर्वोक्त स्वरूप को जान सकूँ और शरण में आऊँ। अतः 'वक्तुम्' इत्यादि कहा है। दिव्य क्रीडारूप अपनी विभूतियों को पूर्ण रूप से आप ही कह सकते हो। विभूति ज्ञान भी अन्य को सम्भव नहीं है। तुम्हारे न जानने पर और वाच्य ही क्या है। आप उन विभूतियों के सम्बन्ध में कहें, जिससे आप लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं ॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥

विस्तरेणाऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

कथनप्रयोजनमाह। कथमिति। हे योगिन्! सर्वव्यापक! सर्वकरणसमर्थ! अहं प्रकटरूपमानन्दमयं त्वां सदा परिचिन्तयन् परितो बाह्याभ्यन्तरभेदेन चिन्तयन् विभूतीः कथं विद्यां जानामीत्यर्थः। अत्रायं भावः। साक्षाद्भगवच्चिन्तने विभूतिज्ञाने तत्र मनोनिवेशने चिन्तनविच्छेदो भविष्यतीति कथं जानामि। ननु तर्हि प्रश्नः किमर्थमित्याशंक्य यत्पूर्वमुक्तम् 'एतां विभूतिमित्यारभ्य येन मामुपयान्ति ते' इत्यन्तं तेन त्वत्प्राप्त्यर्थं पृच्छामि तथापि स्वाधिकारानुसारेण यत्स्वस्यावश्यकं तत्कथयेति विज्ञापयति। केष्विति। केषु लोकेषु। च पुनः। केषु भावेषु पदार्थेषु भगवन्! षड्गुणैश्वर्य! पूर्णगुणैः सर्वव्यापक! मया चिन्तनीयोऽसि। यच्चिन्तनात् त्वां प्राप्नोमि याथातथ्येन जानामि तादृशमात्मनो योगं पदार्थेषु क्रीडात्मकं योगं। च पुनः। तादृशीमेव विभूतिं हे जनार्दन! सर्वाऽविद्यानाशक! पूर्वं संक्षेपकथितामपि भूयो विस्तारेण कथय। हि यस्मात् अमृतं मोक्षात्मकं मरणनिवर्तकमानन्दरूपं त्वद्वाक्यं शृण्वतो मे तृप्तिः अलंभावो न भवतीत्यर्थः ॥१७-१८॥

कथन का प्रयोजन आगे के श्लोक में स्पष्ट किया है—'कथमिति' हे योगिन्! हे सर्वव्यापक! सर्वसमर्थ! मैं प्रत्यक्ष आनन्दमय आपका ध्यान करता हुआ विभूतियों को कैसे जान सकूँगा। भाव यह है कि भगवान् के चिन्तन में विभूति ज्ञान की बात जब आ जायगी तो चिन्तन धारा अवरुद्ध हो जायगी, तब आपको कैसे समझ सकूँगा। यहाँ प्रश्न व्यर्थ होगा तो कहा है कि 'एतां विभूतिमारभ्य' श्लोक से 'येन मामुपयान्ति ते' यहाँ तक तो भगवान् आपको ही जानने के लिये पूछता हूँ, तथा अधिकार के अनुसार ही आप कहें। अतः अर्जुन कहता है—किन लोकों में किन पदार्थों में हे छः गुण सम्पन्न! सर्वव्यापक! आप चिन्तन योग्य हैं। जिस चिन्तन से आपको निश्चित जान लूँ, ऐसे अपने पदार्थों में विद्यमान क्रीडात्मक योग को और वैसी ही विभूति को हे सर्व अविद्याओं को दूर करने वाले भगवन्! पूर्व कही गई

बात को विस्तार से कहें। क्योंकि मरण निवर्तक आनन्दरूप आपके वाक्यों को सुनकर मुझे अरुचि नहीं हो रही ॥१७-१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

एवं जिज्ञासुनाऽर्जुनेन प्रार्थित आह। हन्तेति। स्वस्वरूपज्ञानार्थकतादृक्प्रार्थनया हन्तेतिहर्षे। हे कुरुश्रेष्ठ! भक्तवंशोद्भव! दिव्याः क्रीडारूपा विभूतयः ते प्राधान्यतस्त्वद्योग्यास्त्वदर्थं कथयिष्यामि। ननु विस्तरेण कथं नोच्यत इत्यत आह। नास्तीति। मे विभूतीनां विस्तरस्य अन्तो नास्ति। अतस्त्वत्पृष्टत्वाद्योग्या एव कथयिष्यामीतिभावः ॥१९॥

इस प्रकार जिज्ञासु अर्जुन की प्रार्थना सुनकर प्रसन्न मन श्रीकृष्ण ने कहा — हे कुरुश्रेष्ठ अर्थात् भक्तवंश में उत्पन्न! दिव्य क्रीडारूप विभूतियां सुनाता हूं। किन्तु अधिक विस्तार से अपनी विभूतियों को नहीं कहूंगा, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है। अतः तुम्हारे प्रश्न के अनुसार जो योग्य होगा वही कहूंगा ॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

एवं कथनं प्रतिज्ञाय प्रथमं सर्वांश स्वयोगमाह। अहमिति। अतन्द्रितभावेन श्रवणार्थं सम्बोधयति। हे गुडाकेश! सर्वभूतानामाशयेषु अन्तःकरणेषु स्थितः आत्मा अहं तेन मदात्मकात्मसम्बन्धेन सर्वेषां जीवानां विषयानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दाऽनुभवान्ताऽऽनन्दानुभवो भवतीत्यर्थः। त्वयाऽपि तेषु आनन्दानुभवार्थकमदंशात्मकसंयोगात्मकोऽहं चिन्तनीय इतिभावः। एतच्चि[illegible] ज्ञानायोपयोक्ष्यतीतिभावः। ननु त्वदात्मसंयोगे नाशः कथं भवेदित्याकांक्षायामाह। अहमिति। भूतानां आदिः उत्पत्तिस्थानं चाहम्। च पुनः मध्यं स्थितिः। अन्तश्च लयस्थानमहमेव। यतो मदिच्छया मत्क्रीडार्थमुत्पादिताः यावत्क्रीडनं च रक्षिताः क्रीडोपसंहारेच्छायां च लयं प्रापिता अतो न दोष इति भावः। मयोत्पादितानां मदात्मांशसंयुक्तानामन्यतो नाशेऽन्यलीनत्वे दोषः स्यात् न तु मयि लीनानाम्। इदमेवैवकारेण द्योतितम्। अतएव निर्दोषभावेन मदंशात्मसंयोगं सर्वेषु चिन्तयेतिभावः ॥२०॥

सर्वांश अपने योग को प्रथम कहा—आलस्य छोड़कर सावधानी पूर्वक श्रवण के लिये सम्बोधित किया कि हे गुडाकेश! (अर्जुन) मैं सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरण में स्थित हूं। अतः मेरे आत्मा के सम्बन्ध से सम्पूर्ण जीवों को विषयानन्द से लेकर ब्रह्मानन्द अनुभव तक आनन्द का अनुभव होता है। हे अर्जुन! आनन्द अनुभव अर्थ वाले मेरे अंश संयुक्त आत्मा का चिन्तन तुम भी करो। यह चिन्तन माहात्म्य ज्ञान के लिये उपयोगी है। यदि यह शंका हो कि आपके संयोग होने पर नाश क्यों होता है तो कहा है कि—मैं ही जीवों का उत्पत्ति स्थान, मध्य स्थान तथा प्रलय स्थान हूं, क्योंकि मेरी इच्छा से ही मेरी क्रीडाओं के लिये जीव उत्पन्न होते हैं, अतः जब तक क्रीडा होती है, रहते है, क्रीडा के उपसंहार की इच्छा होने पर लय को प्राप्त हो जाते है अतः कोई दोष नहीं है। मेरे द्वारा उत्पन्नों का मेरी आत्मा से संयुक्त जीवों का अन्य से नाश होने पर या अन्य में लीन होने पर दोष सम्भव है, मुझमें लीन होने पर कोई दोष ही नहीं है, यह तथ्य 'एवकार' पद से व्यंजित है। अतएव निर्दोष भाव से मेरे अंश संयोग का सबमें चिन्तन करना चाहिये। श्रीकृष्ण अब योग युक्त विभूतियों को 'आदित्यानाम्' श्लोक से अध्याय समाप्ति पर्यन्त कहते है ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

योगयुक्ता विभूतीः कथयति। आदित्यानामित्यारभ्य यावदध्यायसमाप्ति। आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुः व्यापकधर्मात्मको बिम्बप्रकाशको-

ऽहम् । ज्योतिषां बहिर्जगत्प्रकाशकानां मध्ये अंशुमान् सर्वप्रकाशकरश्मियुक्तो रविः सूर्योऽस्मीत्यर्थः । मरुतां वायूनां मध्ये मरीचिर्नाम कश्चन सर्वसुखोत्पादनरूपो वायुरस्मि । नक्षत्राणां मध्ये शशी चन्द्रोऽस्मि । शशीतिनाम्ना रोहिण्यासक्तिजन्यलाञ्छनवत्त्वेन रसात्मकासक्तिधर्मरूपशृङ्गाररसात्मकत्वं व्यञ्जितम् ॥२१॥

द्वादश आदित्यों के मध्य व्यापकधर्मा विश्व प्रकाशक विष्णु हूँ। सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाली ज्योतियों में सर्वप्रकाशक किरण युक्त सूर्य हूँ। पवनों के मध्य सबको सुख देने वाला मरीचि नाम का वायु हूँ। नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा मैं हूँ। शशी नाम से रोहिणी में आसक्ति के कारण जो लांछन लगा था वह काम है, इससे रसात्मक आसक्ति तथा शृङ्गार रसात्मकता की अभिव्यक्ति है ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदानां चतुर्णामपि मध्ये सामवेदोऽस्मि । गानात्मकमाधुर्यरसवत्त्वेनाऽऽधिक्यं तत्रेति भावः । देवानां मध्ये वासवः इन्द्रोऽस्मि । शतमखत्वेन सर्वक्रियाफलभोक्तृत्वेन राज्यभोक्तृत्वेन च । इन्द्रियाणाम् आधिदैविकेन्द्रियरूपोऽस्मि । च पुनः । सर्वप्रेरकत्वान्मनोऽस्मि । भूतानां चेतनानां चेतना ज्ञानशक्तिरस्मि ॥२२॥

चारों वेदों में मैं सामवेद हूँ। सामवेद में गानात्मक माधुर्य रसवत्व है, अतः वेदों में उसका आधिक्य है। देवों के मध्य इन्द्र हूँ। इन्द्र शत यज्ञ करता है अतः समस्त क्रियाओं के फल का भोक्ता है, राज्य भोक्ता भी है। इन्द्रियों के मध्य आधिदैविक इन्द्रियरूप सबका प्रेरक मन हूँ। प्राणियों में चेतना ज्ञान शक्ति हूँ ॥२२॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्राणां तामसानामेकादशानां च मध्ये शंकरः सुखकरः सर्वेषां भक्तिज्ञानोपदेशकोऽस्मि । यक्षरक्षसां वित्तेशः कुबेरोऽस्मि । वसूनां मध्ये मुख्यतया द्रोणोऽस्मि । अतएव 'द्रोणो वसूनां प्रवर' इति श्रीभागवते उक्तम् । च पुनः । पावकः अग्निरस्मि । शिखरिणां शिखरवताम् उच्चानां मध्ये मेरुरहमस्मि ॥२३॥

तामस एकादश रुद्रों के मध्य सुख देने वाला शंकर हूँ। सबको भक्ति ज्ञान का उपदेशक हूँ। यक्ष और राक्षसों में कुबेरनामक देव हूँ। वसु नामक देवों में द्रोण नामक वसु हूँ। भागवत में भी आता है कि 'द्रोण वसुओं में श्रेष्ठ था।' और पावक भी मैं हूँ। उच्च शिखर वालों में सुमेरु पर्वत हूँ ॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ ! बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ ! पुरोधसां[1] च मध्ये मुख्यं बृहस्पतिं मां विद्धि । पार्थेतिसंबोधनेन पृथासंबन्धेन त्वयि कृपां करोमि । तथा निन्दिते पौरोहित्येऽपि देवक्रियया तस्मिन् बुद्ध्यादिशक्तिरूपेण तिष्ठामि । तेन मत्स्वरूपं विद्धीतिव्यञ्जितम् । सेनानीनां सेनामध्ये देवसेनापतित्वात् स्कन्दोऽस्मि । सरसां रसयुतानां स्थिरजलानां मध्ये सागरः समुद्रोऽस्मि रत्नाकर इत्यर्थः ॥२४॥

हे पार्थ ! पुरोहितों के मध्य बृहस्पति मुझे जानो। पार्थसम्बोधन साभिप्राय है कारण पृथा के सम्बन्ध से तुझ पर कृपा करता हूँ। निन्दायुक्त पौरोहित्य में भी देवक्रिया से उनमें बुद्धि आदि शक्ति रूपसे रहने वाला मैं हूँ। इससे यह सिद्ध है कि मेरा स्वरूप जानो। सेनानियों के मध्य स्कन्द मैं हूँ। स्थिर जलवालों में समुद्र हूँ ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षीणां सर्ववेदाऽऽत्मको भृगुरस्मि । गिरां पदात्मकानां[2] मध्ये एकाक्षरम् ओंकारात्मकमहमस्मि । यज्ञानां कर्मणां मध्ये जपयज्ञोऽस्मि । स्थावराणामचलानां हिमालयोऽस्मि ॥२५॥

---

[1] पुरोहितानाम् ।
[2] सुप्तिङन्तं पदम् ।

महर्षियों में सर्व वेदात्मक भृगु हूँ। पदों में एकाक्षर 'ओ३म्' हूँ। यज्ञ कर्मों के मध्य जप यज्ञ हूँ। अचलों में हिमालय नामक पर्वत हूँ ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

सर्ववृक्षाणां मध्ये अश्वत्थः पिप्पलोऽस्मि। देवर्षीणां देवमन्त्रद्रष्टृणां मध्ये मदिङ्गितोपदेशकत्वान्नारदोऽस्मि। गन्धर्वाणां गायकानां मध्ये चित्ररथोऽस्मि। सिद्धानाम् अधिगतपरमार्थानां मध्ये स्वतोऽधीतपरमार्थरूपः कपिलो मुनिरस्मि ॥२६॥

वृक्षों में पीपल वृक्ष हूँ। देवर्षियों में अर्थात् देवमन्त्र द्रष्टाओं में मेरे इङ्गित उपदेश से नारद हूँ। गायक गन्धर्वों में 'चित्ररथ' नामक गन्धर्व हूँ। परमार्थ प्राप्त सिद्धों में स्वतः अधीत परमार्थ रूप कपिल नामक मुनि हूँ ॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अश्वानाम् अमृतमथने अमृतसंगोत्पन्नम् उच्चैःश्रवसं मदंशं विद्धि। गजेन्द्राणाम् ऐरावतं विद्धि। नराणां मध्ये पालकं नरं राजानं विद्धि ॥२७॥

अश्वों में अमृत के साथ उत्पन्न उच्चैःश्रवा नामक अश्व हूँ। गजेन्द्रों में ऐरावत मैं हूँ। मनुष्यों के मध्य उनका पालन करने वाला नृपति हूँ ॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहं ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

आयुधानां शस्त्राणां मध्ये वज्रम् अस्मि। धेनूनां दोग्ध्रीणां कामधुक् कामधेनुरस्मि। प्रजनः प्रजोत्पादकः कंदर्पश्च कामोऽस्मि। चकारेण केवल सम्भोगहेतुर्निवारितः। सर्पाणां विषधराणां गतिमतां[1] वा वासुकिरस्मि ॥२८॥

नागानाम् अविषाणां स्थिराणां[2] मध्ये अनन्तस्तेषामधीशः शेषोऽस्मि। यादसां जलचराणां पतिर्वरुणोऽस्मि। पितॄणां मुख्यः अर्यमा चास्मि। चकारेण सर्वेषां पितृरूपत्वमपि ज्ञापितम्। संयमतां नियमं कुर्वतां मुख्यो यमोऽस्मि ॥२९॥

शस्त्रों के मध्य वज्र हूँ, गायों में कामधेनु हूँ। प्रजा का उत्पादक काम हूँ। चकार से केवल संभोग हेतु का निवारण किया है। विषधरों अथवा गतिशीलों में वासुकि सर्प हूँ। विषरहित स्थिरों के मध्य अनन्तों का ईश शेष हूँ। जलचरों का पति वरुण हूँ। पितरों में मुख्य अर्यमा हूँ। चकार से सबका पितृरूपत्व भी ज्ञापित किया है। नियम करने वालों में मैं यमराज हूँ ॥२८-२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्यानां च असंभावितत्वात् मध्ये दैत्यकुलोद्धारकः प्रह्लादोऽस्मि। कलयतां वशीकुर्वतां कालोऽहमस्मि। मृगाणां मृगेन्द्रः सिंहः। पक्षिणां पक्षवतां मध्ये वैनतेयस्तेषां राजा गरुडोऽस्मि ॥३०॥

दैत्यों में दैत्य कुल उद्धारक प्रह्लाद हूँ। गणना करने वालों में काल हूँ। मृगों में सिंह हूँ। पक्षियों में पक्षिराज गरुड़ हूँ ॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवतां वेगवतां मध्ये पवनः वायुरस्मि। शस्त्रभृतां रामः दशरथात्मजोऽस्मि। झषाणां मध्ये मकरः मत्स्यजातिविशेषोऽस्मि। स्रोतसां प्रवहज्जलानां मध्ये जाह्नवी गङ्गाऽस्मि ॥३१॥

वेग वालों में पवन हूँ। शस्त्रधारियों में श्रीराम हूँ। झष (जलचरों) में मत्स्य हूँ। बहते जलों में गङ्गा हूँ ॥३१॥

---

[1] अजगरातिरिक्तानामित्यर्थः।

[2] न गच्छन्तीति कुण्डलत्वमाप्यमर्थः।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ! ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।।३२।।

सर्गाणामिति ।। सृज्यन्त इति सर्गाः भूतादयश्च स त्रिविधः कार्यसर्गः, कारणसर्गः । तत्रकार्यसर्गो लौकिको बहिःसृष्टिरूपः । स च जीवनाशरूपत्वात् प्रलयात्मकः । कारणसर्गस्तु मोक्षात्मकत्वादलौकिकः । तृतीयो भगवल्लीलात्मकः । तत्राऽप्यवान्तरभेदास्तत्त्वकालजीवादिरूपाः सन्ति तेषां सर्गाणां मध्ये आदिः कारणरूपोऽहम् । च पुनः । अन्तः रजोगुणात्मकब्रह्मकृतोऽन्तात्मकोऽप्यहम् । मध्यं लीलात्मसर्गोऽहमेव । च मत्स्वरूपमेवेत्यर्थः । हे अर्जुन ! मुक्त्यधिकारजातीय ![1] असतामनुकम्पार्थमेवं सर्गत्रयं मद्रूपत्वेन चिन्तयेत्यर्थः । अध्यात्मेति । विद्यानां सर्वासां मध्ये अध्यात्मविद्याऽहमस्मि । प्रवदतां वादिनां वादवितण्डाजल्पपक्षत्रयमध्ये वादस्तत्त्वस्वरूपनिर्णयात्मकोऽहमस्मि ।।३२।।

भूतादिसर्ग तीन प्रकार का है—कार्यसर्ग-कारणसर्ग-लीलात्मकसर्ग । कार्यसर्ग लौकिक बाह्य सृष्टिरूप है । जीवनाश रूप होने से वह प्रलयात्मक है । कारणसर्ग मोक्षात्मक है अतः अलौकिक है । तृतीय भगवल्लीलात्मक । अवान्तर भेद से सर्ग के मध्य तत्त्व-काल जीवादिरूप भी आते हैं । उन सर्गों के मध्य आदि अर्थात् कारणरूप मैं हूँ । अन्त रजोगुणात्मक ब्रह्मा द्वारा सम्पादित अन्त भी मैं हूँ । मध्य लीला सर्ग भी मैं हूँ अर्थात् लीला सर्ग मेरा स्वरूप है । अर्जुन सम्बोधन मुक्त्यधिकार जातित्व बोधनार्थ है । दुष्टों के बन्धन के लिये ही तीनों सर्गों को मेरा रूप समझके चिन्तन करो । सम्पूर्ण विद्याओं के बीच में मैं अध्यात्म विद्या हूँ । वादियों में वाद हूँ—वाद-वितण्डा-जल्प—इन तीन पक्षों में तत्त्व स्वरूप निर्णयात्मक मैं हूँ ।।३२।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ।।३३।।

अक्षराणां वर्णानां मध्ये अकारोऽस्मि । सर्वाक्षरगतत्वात् । सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्ये द्वन्द्वः गोपीमाधवावित्यादिरस्मि । अक्षयः लीलात्मकोऽलौकिकः कालोऽहमेवास्मि । एवकारेण तस्य साक्षात्स्वरूपात्मकत्वाद्विभूतित्वे किं वाच्यमिति ज्ञापितम् । विधातॄणां मध्ये विश्वतोमुखः सर्वतोमुखश्चतुर्मुखो धाता अलौकिकसृष्टिकर्त्ताऽहमस्मीत्यर्थः ।।३३।।

अक्षरों में अकार हूँ । अकाराक्षर सम्पूर्ण अक्षरों में विद्यमान है । समास तत्पुरुष—बहुव्रीहि आदि में द्वन्द्व समास हूँ । यथा "गोपीमाधवौ" । लीलात्मक अलौकिक काल मैं हूँ । एवकार से उसके साक्षात् स्वरूपात्मक से विभूतिमत्ता में तो कहना ही क्या है ? विधाताओं के मध्य चतुर्मुख धाता अलौकिक सृष्टिकर्ता मैं हूँ ।।३३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाऽहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।३४।।

मृत्युरिति । संहारिणां मध्ये सर्वसंहारकोऽहम् । च पुनः मृत्युरपि । भविष्यतां निखिलानां प्राणिनां पदार्थानाम् उद्भवः अभ्युदयः भाग्यरूपोऽहम् । कीर्तिरिति । कीर्तिः धर्मस्य स्त्री । श्रीः लक्ष्मीः । वाक् सरस्वती श्रीभागवतादिरूपा । स्मृतिर्भगवत्स्मरणात्मिका । मेधा बुद्धिः भगवद्गुणैकनिष्ठा । धृतिः आपत्सु धर्मैकनिष्ठता । क्षमा सर्वाऽतिक्रमसहनरूपा । नारीणां मध्ये एता मद्विभूतिरूपाः ।।३४।।

संहारकों के मध्य सब का संहार करनेवाला मैं हूँ । मृत्यु भी हूँ । सम्पूर्ण प्राणियों का भाग्य मैं हूँ । धर्म की स्त्री कीर्ति, लक्ष्मी, सरस्वती, भागवतादिरूपा श्री, भगवत्स्मरणात्मिका स्मृति बुद्धि, भगवान् के गुणों में एक निष्ठा, आपत्ति में धर्म में एक निष्ठा, सम्पूर्ण अतिक्रमण सहन रूप क्षमा, ये नारियों के मध्य मेरी विभूति हैं ।।३४।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।३५।।

साम्नां सामऋचां मध्ये बृहत्साम मद्विभूतिरित्यर्थः । छंदसां मध्ये गायत्री मद्विभूतिः । मासानां मध्ये मार्गशीर्षोऽहम् । ऋतूनां मध्ये कुसुमाकरो वसन्तोऽस्मि ।।३५।।

सामों के मध्य बृहत्साम हूँ, छन्दों के मध्य गायत्री छन्द हूँ । चैत्रादि मासों के मध्य मार्गशीर्ष मास हूँ, ऋतुओं के मध्य वसन्त हूँ ।।३५।।

---

[1] बलबोधकत्वोऽर्जुन इति शुद्धत्वादित्यर्थः ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

द्यूतमिति । छलयतां वञ्चकानां मध्ये द्यूतमस्मि येन क्रीडाक्षाद्यादि-धर्मं ज्ञानेन मोहितो जानन्नपि वञ्चति । तेजस्विनां प्रभावतां मध्ये तेजः प्रभा अहमस्मि । जयतां मध्ये जयोऽस्मि । व्यवसायिनामुद्यमवतां निश्चयवतां वा व्यवसायः उद्यमः निश्चयो वाऽस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां मध्ये सत्त्वमहम् ॥३६॥

वञ्चकों के मध्य जूआ हूँ जिससे क्रीड़ा, अक्षादि धर्म ज्ञान से मोहित होकर जानता हुआ भी ठग जाता है । तेजस्वियों के मध्य प्रभा हूँ । जय करनेवालों में जय हूँ, उद्यम करनेवालों में व्यवसाय हूँ या निश्चय हूँ । सात्त्विकों के मध्य सत्त्व हूँ ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णीनामिति । वृष्णीनां यादवानां सर्वेषां मध्ये हृदये वासुदेवः सर्वमोक्षदाता क्रीडार्थम् अंशैरस्मि । सर्वे यादवा मद्विभूतिरूपा इत्यर्थः । पाण्डवानां मध्ये धनञ्जयस्त्वमेवास्मि । मुनीनां ब्रह्ममननशीलानां मध्ये व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽस्मि । कवीनां निर्दुष्टस्वरशब्दप्रदर्शिनां मध्ये उशना कविः शुक्रोऽस्मि ॥३७॥

वृष्णियों के मध्य हृदय में वासुदेव हूँ । सर्वमोक्षदाता क्रीडार्थ अंशों से हूँ । सम्पूर्ण यादव मेरी विभूति हैं । पाण्डवों के मध्य धनञ्जय तू भी मैं हूँ । ब्रह्म मननशीलों के मध्य कृष्णद्वैपायन व्यास हूँ । निर्दुष्ट स्वर शब्द प्रदर्शकों के मध्य शुक्राचार्य हूँ ॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दण्ड इति । दमयतां दमकारिणां मध्ये दण्डोऽस्मि सर्वदोषहरत्वेनेति-भावः । जिगीषतां जेतुमिच्छतां नीतिरस्मि । गुह्यानां गोप्यानां मध्ये मौनम् अवचनमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानिनां मध्ये ज्ञानमहमस्मि ॥३८॥

दमनकारियों में दण्ड हूँ, क्योंकि सम्पूर्ण दोषों का हरण करता हूँ जीतने की इच्छावालों में नीति हूँ । गोप्यों के मध्य मौन हूँ । ज्ञानियों के मध्य ज्ञान हूँ ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

यदिति । यत्सर्वभूतानां बीजम् उत्पत्तिकारणं तदपि अहमेव । अपिशब्देन योनिरूपं चाऽहमेवेतिव्यञ्जितम् । यत् चराचरं भूतं तज्जातं तन्मया विना किञ्चिन्नास्ति ॥३९॥

जो सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति का कारण है वह भी मैं हूँ । अपि शब्द से योनि तद्रूप भी मैं हूँ । जो कुछ चराचर जगत् में है, मेरे बिना कुछ भी नहीं है ॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

एवं विभूतिमुक्त्वोपसंहरति । नान्तोऽस्तीति । मम स्वच्छन्दचारिणः दिव्यानां क्रीडात्मिकानां विभूतीनाम् अन्तो नास्ति । परन्तपेतिसंबोधनं विश्वासार्थम् नन्वन्ताऽभावे कथमेता एवोक्ता इत्याकांक्षायामाह । एष इति । एष तूद्देशतः संक्षेपतो विभूतेर्विस्तरो मया प्रोक्तः । प्रोक्तत्वेनान्येषामेतावज्ज्ञानेऽप्यसामर्थ्यं द्योतितम् ॥४०॥

इस प्रकार विभूति बतलाकर उपसंहार करते हैं—मेरी स्वतन्त्र विचरण करनेवाली विभूतियों का अन्त नहीं है । परन्तप सम्बोधन विश्वासार्थ है । यदि अनन्त है तो इतनी ही क्यों कही इसका उत्तर देते हैं—यह विभूति वर्णन संक्षेप से कहा है अन्यथा इनका भी ज्ञान सर्व साधारण को हो नहीं सकता ॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवाऽवगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥४१॥

ननु मया सर्वस्वरूपज्ञानेन सर्वत्र त्वच्चिन्तनार्थं विभूतिविस्तारः पृष्टस्तस्यान्ताभावोक्त्या मया कुत्र कथं चिन्तनीय इत्याकांक्षायामाह । यद्यदिति । यत् यत् सत्त्वं वस्तुमात्रं विभूतिमत् ऐश्वर्ययुक्तं श्रीमत् संपत्ति-युक्तम् ऊर्जितमेव केनापि प्रकारेणोत्कृष्टतां प्राप्तं रमणीयतरं वा तत् तदेव मम तेजोंशसंभवं ममानुभावसंभूतम् अवगच्छ जानीहि ॥४१॥

यदि यह कहें कि मैंने सर्वस्वरूप ज्ञान के लिये तेरे चिन्तन के लिये विभूति विस्तार पूछा है तो मैं किसमें चिन्तन करूँ तो कहा है जो जो विभूति युक्त हैं, किसी भी प्रकार से उत्कृष्टता को प्राप्त हैं, वे मेरे अनुभव से सम्भूत समझो ॥४१॥

अथ वा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवाऽर्जुन !
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम
दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एवं विभुत्यादिमत्सु भगवदंशज्ञानेनान्यत्र हेयत्वादिबुद्धौ सर्वस्य भगवदात्मकत्वं भज्येतेत्यन्यं प्रकारमाह । अथवेति । अथ वा पक्षान्तरेण हे अर्जुन ! तव बहुना नानाविधेन ज्ञानेन किं कार्यम्, न किमपीत्यर्थः । यत एतेन नानाज्ञानेन न किञ्चित् कार्यम् अतः कार्योपयोगिस्वरूपमाह । इदं परिदृश्यमानं जगत् कृत्स्नं संपूर्णम् एकांशेन क्रीडात्मकेन विष्टभ्य धृत्वा स्थितोऽस्म्यहमित्यर्थः । अनेन सर्वं मत्क्रीडारूपमेव चिन्तयेतिभावो बोधितः ॥४२॥

प्रतीयते जगन्नानाविधं स्वाज्ञानभावतः ।
विभूतिरूपं श्रीकृष्णस्तन्नाशायाऽब्रवीन्नरम् ॥१॥
इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां दशमोऽध्यायः ॥१०॥

इस प्रकार विभूति युक्तों में भगवान् का अंश जानकर अन्यत्र हेयत्वादि बुद्धि होने पर सब भगवान् मय हैं यह ज्ञान खण्डित होगी अतः कहा है पक्षान्तर में हे अर्जुन ! तुम्हें नाना प्रकार से जानने से लाभ भी क्या है ? अतः कार्योपयोगी स्वरूप जान लो । यह दिखलाई देनेवाला जगत् क्रीडा के लिये मुझ में ही स्थित है मेरी क्रीडा रूपता का चिन्तन सर्वत्र करो ।

कारिकार्थ :—अपने अज्ञान के कारण यह जगत् नाना प्रकार का दिखलाई दे रहा है । इसके एकत्व की ज्ञप्ति कराने के लिये श्रीकृष्ण ने नर से यह विभूतियोग कहा है ॥४२॥१०॥

॥ दशवाँ अध्याय समाप्त ॥

श्रीकृष्णाय नमः

अध्याय ११

अर्जुन उवाच ॥
मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

श्रीकृष्णाय नमः ॥ कृष्णाऽऽत्मत्वं हि जगतो विभूतिकथनान्नरः ॥
अवगत्य च तद्रूपं द्रष्टुं हरिमथाऽब्रवीत् ।

पूर्वाध्यायान्ते विष्टभ्याऽहमित्यनेन स्वक्रीडात्मकत्वेन विश्वस्य स्वात्मकत्वं प्रतिपादितम् तद्रूपदर्शनेच्छुरर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयति ॥ मदनुग्रहायेति । चतुर्भिः ॥ मदनुग्रहाय मम स्वीयत्वेन ग्रहणाय परमं परः पुरुषोत्तमो मीयते अनुमीयते यस्मात्तादृशम् अतएव गुह्यं सर्वेषामनाख्येयम् अध्यात्मसंज्ञितम् आत्मानात्मविवेकविषयत्वेन सर्वात्मरूपं यत् त्वया वचो 'विष्टभ्याहमिति' उक्तं तेन ममाऽयं रूपे मोहो विशेषेण गतो नष्ट इत्यर्थः ॥१॥

कारिकार्थः—जगत् की विभूति कृष्णात्मक है । यह जान उनके रूप को जानकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—पूर्व अध्याय के अन्त में 'विष्टभ्याहम्' इस श्लोक से क्रीडात्मक विश्व को अपना ही बतलाया था । उस रूप को देखने की इच्छासे अर्जुन भगवान् से कहता है । चार श्लोकों से कहा है—

मुझे आपने अपना बनाया है तभी पुरुषोत्तम को मैंने जाना है और तभी आपने अत्यन्त भोग अध्यात्म संज्ञित आत्मा गोप्य-अनात्मा का विवेक विषय 'विष्टभ्याहम्' से जो कहा उससे मेरा मोह नष्ट हो गया ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष ! माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

किञ्च। भवाप्ययाविति। भूतानां भवाप्ययौ उत्पत्तिनाशौ 'अहमादिश्चे'त्यादिना हे कमलपत्राक्ष ! दृष्ट्यैव तापनाशक ! त्वत्तो मया विस्तरशः श्रुतौ ।

अव्ययं स्थितरूपं पालनरूपं माहात्म्यं महत्त्वं नाशानन्तरपालनरूपं चापि श्रुतं, तेन मोहो नष्ट इति पूर्वेणैवान्वयः ॥२॥

प्राणियों की उत्पत्ति और नाश 'अहमादिश्च' इत्यादि से सुना। हे कमलपत्राक्ष ! अर्थात् दृष्टि से ही ताप नाश करने वाले! मैंने आपसे विस्तार से सुना। स्थिति रूप माहात्म्य, नाश के पश्चात् पालन रूप भी मैंने सुना। उससे मेरा मोह नष्ट हो गया। (अन्वय पूर्व श्लोक से है) ॥२॥

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ! ॥३॥

कथं ज्ञातव्यं मोहो नष्ट इतीत्याशङ्क्य नष्टमोहानां भगवद्वाक्ये विश्वासो नियत इति तदाह ॥ एवमिति ॥ हे परमेश्वर ! सर्वाधीश ! यथा त्वम् आत्मानं स्वस्वरूपम् आत्थ वदसि 'न मे विदु'रित्यनेन सर्वाज्ञातत्वं, 'विष्टभ्याहमि'त्यनेन सर्वात्मत्वं, 'ददामि बुद्धियोगं तमि'त्यादिना स्वकृपयैव ज्ञातत्वम् एवमेतद् यथार्थमेवेत्यर्थः। यथार्थत्वोक्त्या पूर्वमज्ञातस्वरूपोऽहम्[1] अधुना विभूतिनिरूपणेन विष्टभ्याहमिति कृपोक्त्या च तच्चिन्तनेन सर्वात्मत्वज्ञानयुक्तो जात इति स्वानुभवो व्यञ्जितः ॥ अथातो ज्ञातस्वरूपस्तद्रूपं दर्शयेत्याह। द्रष्टुमिति। हे पुरुषोत्तम ! ते तवैव तत्संबन्धिनम् ऐश्वरं नानाविलासकं रूपं द्रष्टुम् इच्छामि ॥३॥

यह कैसे ज्ञात हो कि मोह नष्ट हो गया क्योंकि नष्टमोह जीवों का भगवान् के वाक्य में विश्वास नियत होता है। अतः कहा है, हे परमेश्वर ! जैसे आप अपने स्वरूप को कहते हो—'न मे विदुः' से सर्व अज्ञातत्व, 'विष्टभ्याहम्' से सर्वात्मत्व, 'ददामि बुद्धियोगम्' इत्यादि से स्वकृपा से ज्ञातत्व कहा है, यथार्थ ही है। यथार्थत्व उक्ति से भगवान् के स्वरूप को न जानकर विभूति निरूपण से 'विष्टभ्याहम्' से कृपा की उक्ति है तच्चिन्तन से सर्वात्मत्व ज्ञानयुक्त है यह अनुभव व्यंग्य है। अतः ज्ञात स्वरूप को दिखलाइये—हे पुरुषोत्तम ! आपके नाना विलासात्मक रूप को देखना चाहता हूँ ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ! ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम् ॥४॥

---

[1] अज्ञातं भगवत्स्वरूपं येनेत्यर्थः।

स्वेच्छायां सत्यामपि भगवदिच्छाऽभावे च द्रष्टुमपि निर्बन्धेन न फलतीति विज्ञापयति ॥ मन्यस इति ॥ हे प्रभो ! सर्वकरणसमर्थ ! यदि तद्रूपं मया द्रष्टुं शक्यं दर्शनानन्तरं फलरूपं भवति तथाचेन्मन्यसे फलरूपं भवत्विति, तदा योगेश्वर ! योगिनः स्वयोगबलेन सामर्थ्यं प्रकटयन्ति तेषां योग आगन्तुको धर्मः, त्वं तु योगस्यापीश्वरस्तेन मम दर्शनसामर्थ्यमपि कृपया दत्वा दर्शय। एवं प्रार्थनायां प्रभुस्तद्रूपं दर्शयित्वा तत्रैव लीनं कुर्यात् तदा भक्तिरसानुभूतपुरुषोत्तमरूपानुभवो न भवेदतो विज्ञापयति। तत इति। तत एतन्मनोरथपूर्त्यनन्तरम् अव्ययम् अविनाशिनम् आत्मानं पुरुषोत्तमम् आनन्दमयं दर्शयेतिभावः ॥४॥

स्वेच्छा होने पर भी भगवान् की इच्छा के अभाव में देखना भी सम्भव नहीं है। हे सर्वकरण समर्थ ! यदि वह रूप मेरे द्वारा देखने योग्य है तो दर्शन के पश्चात् फलरूप यदि मानते हों तो हे योगेश्वर ! योगी अपने योगबल से सामर्थ्य प्रकट करते हैं उनका योग आगन्तुक धर्म होता है। आप उसके भी ईश्वर हैं अतः मुझे दर्शन सामर्थ्य देकर दिखाएँ।

इस प्रार्थना से भगवान् रूप को दिखाकर वहीं लीन कर दें तो भक्ति रसानुभूत पुरुषोत्तम रूप का अनुभव न हो अतः कहा है कि—मनोरथ पूर्ति के अनन्तर अविनाशी आत्मा पुरुषोत्तम आनन्दमय को दिखलायें ॥४॥

श्रीभगवानुवाच ॥

पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

एवं प्रार्थितः सन् तद्रूपं दर्शयिष्यन्नर्जुनं सावधानं करोति भगवान् ॥ पश्येत्यादि चतुर्भिः। हे पार्थ भक्तपुत्र ! कृपया दर्शयामीतिसंबोधनम्। अन्यथा पुरुषोत्तमदर्शनतोऽन्यदर्शनेच्छायामेतद्रसानुभवमपि न कारयेदितिभावः। मे मम शतशः सहस्रशः असंख्यातानि शतशः सहस्रशः यावदिच्छसि तावद्वा नानाविधानि नानाफलकारकाणि रूपाणि यस्य नानाविधान्यपि दिव्यानि अलौकिकानि क्रीडात्मकानि नतु प्रदर्शनार्थमेव कृतानि। च पुनः।

तथैव नाना वर्णाकृतीनि नाना अनेके वर्णाः शुक्ललोहितादयः, आकृतयः अवयवादिविशेषाश्च येषां तानि ॥५॥

इस प्रकार अर्जुन की प्रार्थना सुनकर अपने रूप को दिखाने की इच्छा से अर्जुन को सावधान करते हुए ४ श्लोकों से श्रीकृष्ण ने कहा—हे पार्थ ! अर्थात् भक्त पुत्र ! मैं कृपापूर्वक दिखलाता हूँ । अन्यथा पुरुषोत्तम दर्शन से अन्य दर्शन की इच्छा में इस रस का अनुभव भी सम्भव नहीं है । मेरे असंख्य रूप हैं, अथवा जितने देखना चाहो उतने । वे रूप नाना प्रकार के हैं दिव्य हैं, क्रीडात्मक हैं केवल प्रदर्शन के लिये नहीं । शुक्ल-रक्त आदि अनेक वर्ण के हैं । नाना आकृति युक्त हैं ॥५॥

पश्याऽऽदित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ! ॥६॥

तान्येव पश्येति नामभिर्विशेषेणाह ॥ पश्येति ॥ आदित्यान् द्वादशात्मकान् वसून् अष्टसंख्याकान् रुद्रानेकादशसंख्यान् ॥ अश्विनौ अश्विनीकुमारौ मरुतः देवगणविशेषान् । तथा बहून्यसंख्येयानि अदृष्टपूर्वाणि सर्वैः । आश्चर्याणि अलौकिकानि हे भारत ! उत्तमवंशोद्भव ! योग्यत्वात् पश्य ॥६॥

नामों द्वारा विशेष रूप कहते हैं—द्वादश आदित्य, आठवसु, एकादश रुद्र अश्विनी कुमार, मरुद्गण तथा असंख्येय अदृष्टपूर्व अलौकिकों को हे भारत ! हे उत्तम वंशोद्भव, योग्य होने से देख सकते हो ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याऽद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

किञ्च । इहेति । कोटिजन्मभिरपि संपूर्णं द्रष्टुमशक्यं कृत्स्नं समस्तं जगत् विरुद्धत्वेन परिदृश्यमानमपि मम देहे एकस्थम् एकत्र स्थितं सचराचरं जडजीवसहितम् इह अस्मिन्नेव जन्मनि । अद्य तत्कालमेव यच्च अन्यत्= सर्वेषां विभूतित्वेन कथं मारयामीतिविचारेण मरणमारणादिरूपं यत् द्रष्टुम् इच्छसि तत्पश्य ॥७॥

कोटि जन्मों द्वारा भी मेरे सम्पूर्ण रूपों को देखना सम्भव नहीं है, किन्तु मेरे देह में एकत्र ही चर-अचर सहित (जड़-जीव सहित) इसी जन्म में तत्काल ही देखना चाहो वह देखो । इनसे पृथक् सब विभूति हैं तो कैसे मारूँ इस विचार से मरण-मरणादि रूप जो देखना चाहो देखो ॥७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

एवमुक्तं दर्शनोद्यतं प्रत्याह ॥ नत्विति ॥ तु पुनः । एवनेव द्रष्टुं न शक्यसे न शक्तोऽसि । अतस्ते दिव्यमलौकिकं चक्षुर्ददामि । तेन स्वचक्षुषा मत्कृपादृष्ट्या मां पुरुषोत्तमं पश्य । अतो दृष्टपुरुषोत्तमेन अनेनैव मे ऐश्वरं करणाकरणाऽन्यथाकरणसामर्थ्यरूपं योगयुक्तं पश्य । पुरुषोत्तमस्वरूपज्ञानदर्शनाभावे सर्वस्वरूपदर्शनं न स्यात् । पुरुषोत्तमदर्शनं चासाधारणदृष्ट्या भवेदितिभावः ॥८॥

अर्जुन जब देखने को उद्यत हुआ तब भगवान् ने कहा—तुम मुझे इस प्रकार नहीं देख सकते । अतः अलौकिक नेत्र देता हूँ और तब मेरी कृपा दृष्टि से ही मुझ पुरुषोत्तम को देख ! पुरुषोत्तम को देखकर करने योग्य, न करने योग्य, अन्यथा करने योग्य सामर्थ्य रूप योग युक्त को देख ! पुरुषोत्तम स्वरूप ज्ञान दर्शन के अभाव में सर्वस्वरूप का दर्शन सम्भव नहीं है । पुरुषोत्तम का दर्शन असाधारण दृष्टि से होता है यह भाव है ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

एवमुक्त्वा अर्जुनाय स्वरूपं दर्शयामास भगवानिति धृतराष्ट्रं प्रति संजय आह । राजन्याभिमानेन दिव्यदृष्ट्यसुरावेशिभीष्मादिमारणेन सर्वदुःखनिराकरणार्थं महायोगेश्वरः सर्वकरणसमर्थः सर्वात्मकयोगबलेन एवम् उक्त्वा अलौकिकीं दृष्टिं दत्वा पार्थाय स्वाङ्गीकृताय परमं रूपं पुरुषोत्तमरूपं दर्शयामास । ततस्तद्दर्शनानन्तरम् ऐश्वरं रूपं दर्शयामास ॥९॥

यह कहकर भगवान् ने अर्जुन को अपना स्वरूप दिखलाया—यह बात संजय ने धृतराष्ट्र से कही । राजन्य अभिमान से दिव्य दृष्टि असुरावेशि भीष्मादि मारण से

सर्वदुःख निराकरणार्थं महायोगेश्वर सर्वकरण समर्थ सर्वात्मिक योगबल से कहकर अलौकिक दृष्टि देकर स्वाङ्गीकृत पार्थ के लिये पुरुषोत्तम रूप दिखलाया । उसे दिखलाने के अनन्तर ऐश्वर रूप दिखलाया ॥९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यताऽऽयुधम् ॥१०॥

उभयोः स्वरूपमाह ॥ अनेकेति ॥ अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिंस्तत् । निखिललीलात्मकरूपसहितम् । अनेकाद्भुतदर्शनम् अनेकानि अलौकिकानि लीलामयानि दर्शनानि यस्मिंस्तत् । अनेकानि दिव्यानि अलौकिकानि आभरणानि यस्मिंस्तत् । दिव्यानि अलौकिकानि अनेकानि उद्यतानि सकलदुःखनिवारकाणि आयुधानि शङ्खगदादीनि यस्मिंस्तत् ॥१०॥

दोनों का स्वरूप कहते हैं—अनेक मुख वाले (निखिल लीलात्मक रूप सहित) अनेक लीलामय दर्शनयुक्त, अलौकिक आभरण युक्त, सकल दुःख निवारक शङ्ख, गदा आदि आयुध युक्त (को देखा) ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धाऽनुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दिव्यानि क्रीडोपयुक्तानि माल्यानि अम्बराणि बिभर्तीति तथा । दिव्यः क्रीडोद्भूतो गन्धो यस्य तादृशम् अनुलेपनं यस्य तत् । सर्वाश्चर्यमयं दुर्वितर्क्यं देवं सर्वपूज्यम् अनन्तम् अपरिच्छिन्नं व्यापकं विश्वतोमुखं सर्वं पश्यन्तं सर्वसम्मुखम् ॥११॥

दिव्य क्रीडा के उपयुक्त अम्बर युक्त, दिव्य गन्ध अनुलेपयुक्त, दुर्वितर्क्य सर्वपूज्य अनन्त व्यापक सर्वद्रष्टा सर्व ओर मुख युक्त (को देखा) ॥११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

तस्य स्वरूपस्याऽप्रमेयं तेजःस्वरूपमाह ॥ दिवीति ॥ दिवि स्वर्गे सूर्यसहस्रस्य युगपत् एकदैव उदितस्य युगपदेव उत्थिता भाः प्रभाः यदि भवेत् सा तस्य महात्मनः पुरुषोत्तमस्य अनेकात्मरूपस्य भासः सदृशी स्यात् । किंतु न स्यादेवेति काकूक्तिः । एतादृशं स्वरूपम् । १२॥

उस स्वरूप का अप्रमेय तेजः स्वरूप कहते हैं । यदि स्वर्ग में सहस्र सूर्य की एक साथ ही आभा हो तब कहीं पुरुषोत्तम की आभा को प्राप्त कर सकती है । परन्तु नहीं कर सकती, यह काकु ध्वनि है ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

तत्र तस्मिन्नेव रूपे एकस्थम् एकत्र स्थितं कृत्स्नं संपूर्णं जगत् अनेकधा प्रविभक्तं नानाप्रकारविभागयुक्तं दर्शयामासेतिपूर्वेणैवान्वयः । यदा दर्शितं तदा देवदेवस्य पूज्यानामपि पूज्यस्य शरीरे पूर्वप्रतीयमानसूक्ष्मरूप एव पाण्डवः अर्जुनः अपश्यत् दृष्टवान् ॥१३॥

उसी स्वरूप में एकत्र सम्पूर्ण जगत् को अनेकधा विभक्त नाना प्रकार से युक्त स्वरूप को दिखलाया । जब भगवान् ने रूप दिखलाया तब देवाधिदेव पूज्यों के भी पूज्य भगवान् के शरीर में पूर्वप्रतीयमान सूक्ष्मरूप में ही अर्जुन ने देखा ॥१३॥

ततः स विस्मयाऽऽविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

दर्शनानन्तरं किं कृतवानित्यत आह ॥ तत इति ॥ ततस्तदनन्तरं स पूर्वोक्तः प्राप्तदिव्यदृष्टिः । विस्मयाविष्टः आश्चर्यरसनिमग्नः । हृष्टरोमा उत्पुलकिताङ्गः अन्तरानन्दयुक्तः धनञ्जयः प्रादुर्भूतविभूतिरूपः शिरसा मस्तकेन देवं पूज्यं नमस्करणीयं प्रणम्य नमस्कृत्य कृताञ्जलिः विनीतः सन् अभाषत विज्ञप्तिं कृतवान् ॥१४॥

दर्शन के अनन्तर क्या किया अतः कहते हैं—दिव्यदृष्टि प्राप्त अर्जुन आश्चर्य रस में निमग्न हो गया, वह रोमाञ्चित हो गया, आनन्द युक्त हुआ । विभूतिका रूप जिसमें प्रादुर्भूत हुआ, ऐसा वह सिर से कृष्ण को नमस्कार करके विनीत होकर प्रार्थना करने लगा ॥१४॥

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्१५

तद्वाक्यमेवाह ।। पश्यामीति । सप्तदशभिः ।। हे देव ! पूज्य ! तव देहे उपचितस्वरूपे देवान् इन्द्रादीन् क्रीडामयान्, तथा क्रीडात्मकानेव सर्वान् भूतविशेषाणां चतुर्विधानां, संघान् समूहान् । दिव्यान् क्रीडार्थप्रकटितान् ऋषीन् नारदादीन्, पुनस्तामसान् उरगान् शेषादीन्,तन्मूलभूत कमलासनस्थं-नाभिपद्मस्थं ब्रह्माणम्, ईशं महादेवम् एवमेतान् सर्वान् पश्यामि ।।१५।।

यह प्रार्थना १७ श्लोकों से की है—हे देव ! हे पूज्य ! आपके स्वरूप में क्रीडामय इन्द्र आदि देवों को देखता हूं । चार प्रकार के क्रीडामय सम्पूर्ण भूत विशेषों के संघ को देखता हूं । क्रीडा के लिये प्रकट किये नारदादि ऋषियों को देखता हूं, तामस उरगादिकों को, उनके मूलभूत नाभि में स्थितकमल में ब्रह्मा को, महादेव को तथा सबको देखता हूं ।।१५।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम्
।।१६।।

यस्य देहेन एतान् पश्यामि तादृशं त्वां च पश्यामीत्याह भ्रमाभावाय ।। अनेकेति ।। अनेकानि बाह्वादीनि यस्य । सर्वतोऽनन्तानि रूपाणि यस्यैताद‍ृशं त्वां पश्यामि । तादृशानेकरूपस्यापि तव अन्तं पूर्णभावं, मध्यं स्थितिस्थानम्, आदिम्, उत्पत्तिस्थानं न पश्यामि । विश्वेश्वर ! विश्वपरिपालक ! किं बहुना विश्वरूपं पश्यामि ।।१६।।

जिसके देह से इनको देखता हूं ऐसे तुमको ही देखता हूं अतः भ्रम निवारणार्थ कहा है "अनेकबाहु०" ।

अनेकबाहु वाले, अनन्तरूप वाले तुमको देखता हूं । अनेकरूप वाले मैं आपका अन्त=पूर्णभाव, मध्य=स्थिति स्थान, आदि=उत्पत्ति-स्थान, नहीं देखता हूं । हे विश्व के पालक ! अधिक क्या कहूं आपको विश्व के रूप में देख रहा हूं ।।१६।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्१७

किंच । किरीटिनं मुकुटालङ्कारयुक्तं रसात्मकं, गदिनं सकलप्राणाधिदैविकधर्मधारिणं, चक्रिणं तेजोरूपसुदर्शनधारिणं चकारेण तद्वत् मोक्षदानार्थमपि चक्रधारित्वं ज्ञापितम् । तेजोराशिं तेजःपुञ्जात्मकं । सर्वतो दीप्तिमन्तं परित उद्दीपककिरणयुक्तम् । तेजोयुक्तत्वे दीप्तियुक्तत्वे च दृष्टान्तमाह । दीप्तानलार्कद्युतिं । दीप्तौ यावनलार्कौ तयोर्द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तादृशम् अप्रमेयं प्रमातुमयोग्यं त्वां समन्तात् दुर्निरीक्ष्यं पश्यामि ।।१७।।

मुकुटालङ्कार से युक्त (अतः रसात्मक) सम्पूर्ण प्राणियों के आधिदैविक धर्म को धारण करने वाले, तेजो रूप सुदर्शन धारण करने वाले । चकार से मोक्षदान के लिये भी चक्रधारण करने वाले, तेज के पुञ्ज, चारों ओर से उद्दीपक किरणों से युक्त (तेजो युक्तता में तथा दीप्ति युक्तता में दृष्टान्त)—दीप्त जो अग्नि-सूर्य उनकी द्युति वाले प्रभा के अयोग्य आपको चारों ओर से दुर्निरीक्ष्य मानता हूं ।।१७।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे १८

एवंभूतस्वरूपदर्शनेन स्वज्ञानार्थं निवेदयति ।। त्वमिति ।। अक्षरम् अक्षरस्वरूपं त्वमेव परमं ब्रह्म । त्वं वेदितव्यं भक्तानां ज्ञानिनां ज्ञेयरूपस्त्वमेव । अक्षरत्वेन सर्वोत्पत्तिकारणता निरूपिता । लयस्वरूपमाह । त्वम् अस्य विश्वस्य परम् उत्कृष्टं मोक्षरूपं निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति लयस्थानम् । पालकत्वमाह । शाश्वतस्य नित्यस्य धर्मस्य गोप्ता पालको रक्षकस्त्वम् । एवमपि न गुणात्मकः किन्तु अव्ययः अविनाशी नित्यः । एवं सर्वधर्मानुक्त्वा मुख्यं स्वनिश्चिततामाह । सनातनः पुरुषः पुरुषोत्तमो मे मम मतः संमत इत्यर्थः ।।१८।।

इस प्रकार के स्वरूप दर्शन से अपने ज्ञान के लिये निवेदन करता है—'त्वम्' । अक्षर स्वरूप आपही ब्रह्म हो । भक्तों के लिये आप ही ज्ञेय हो (अक्षरत्व कथन द्वारा

सबकी उत्पत्ति के कारण भगवान् हैं यह बतलाया है) अब लयस्वरूप बतलाते हैं—आप इस विश्व के उत्कृष्ट मोक्ष के लयस्थान हो (निधानम्—निधीयतेऽस्मिन्निति लय-स्थानम्) पालकत्व बतलाते हैं—इस शाश्वत धर्म के रक्षक आप ही हो। ऐसे होते हुए भी गुणात्मक नहीं हो किन्तु अव्यय हो अर्थात् नित्य हो। इस प्रकार सर्व धर्मों को बतलाकर मुख्य अपने निश्चय को अर्जुन बतलाता है कि मेरी संमति से आप पुरुषोत्तम हो ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्१९

एवं पुरुषोत्तममुक्त्वा दृष्टं विश्वरूपमाह ॥ अनादीत्यादिना ॥ अनादिमध्यान्तं न विद्यते आदिर्मध्यम् अन्तश्च यस्य उत्पत्तिस्थितिप्रलयरहितम् । अनन्तं वीर्यं पराक्रमो यस्य तम् । अनन्तबाहुम् अनन्ताः क्रियाशक्तयो यस्य । शशिसूर्यनेत्रं शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य । दीप्तहुताशवक्त्रं दीप्तो धूमादिरहितो हुताशः अ[illegible]वक्त्रेषु यस्य तम् । स्वतेजसा इदं परिदृश्यमानं विश्वं तपन्तं तेजोयुक्तं त्वां पश्यामि ॥१९॥

इस प्रकार पुरुषोत्तम भाव को बतलाकर देखे हुए विश्वरूप को बतलाता है—
अनादि······ ······ ······ ······ ······ ······

उत्पत्ति स्थिति प्रलय रहित अनन्त पराक्रमी अनन्त क्रिया शक्ति वाले चन्द्र-सूर्य नेत्र वाले, धूमरहित अग्निपूरित मुख वाले तथा अपने तेज से इस विश्व को प्रकाशित करने वाले तेजयुक्त आपको देखता हूँ ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् २०

किंच । द्यावापृथिव्योरिति । इदं द्यावापृथिव्योः अन्तरम् अन्तरिक्षम् एकेन त्वया व्याप्तं । च पुनः । दिशः सर्वास्त्वया व्याप्ताः पश्यामि । किंच । हे महात्मन् ! इतोऽप्यधिकप्रकटनसमर्थ ! तव इदम् अद्भुतम् अलौकिकम् उग्रम् अदृष्टं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं प्रकर्षेण व्यथितं भीतं पश्यामीति पूर्वेणान्वयः ॥२०॥

इस द्युलोक और पृथ्वीलोक के मध्य स्थानीय अन्तरिक्ष लोक को एक आपने ही व्याप्त कर लिया है और सम्पूर्ण दिशाओं को भी आपने व्याप्त कर लिया है। हे महात्मन् ! (इससे भी अधिक प्रकट करने की शक्तिवाले) इस आपके अलौकिक अदृष्टरूप को देखकर तीनों लोकों को भयभीत मानता हूँ ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति,
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

किंच । अमीहीति ॥ अमीसुरसंघाः देवसमूहाः त्वां त्वत्समीपे विशन्ति शरणमागच्छन्तीत्यर्थः । हीति युक्तमेव पुरुषोत्तमशरणागमनं देवानाम् । केचित् इतरे असुरा इत्यर्थः, भीताः सन्तः प्राञ्जलयो बद्धाञ्जलिपुटाः गृणन्ति रक्षेति वदन्तीत्यर्थः । महर्षिसिद्धसंघाः महर्षीणां सिद्धानां च समूहाः स्वस्ति अस्माकमस्तीत्युक्त्वा पुष्कलाभिः पूर्णाभिः स्तुतिभिः त्वां स्तुवन्ति ॥२१॥

ये देवसमुदाय आपकी शरण में आ रहे हैं (किन्तु यह बात युक्त ही है कि देवता पुरुषोत्तम की शरण में आवें, यह ही शब्द का भाव है। असुर भयभीत होकर हाथ जोड़कर रक्षा करो ऐसा कह रहे हैं। महर्षि और सिद्धों का समुदाय हमारा कल्याण हो ऐसा कहकर पूर्ण स्तुतियों से आपका स्तवन कर रहे हैं ॥२१॥

रुद्राऽऽदित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षाः सुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते-
त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे[1] ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु साध्यगण विश्वेदेवा, अश्विनीकुमार, मरुद्देव ऊष्म पान करने वाले, गन्धर्व, यक्ष, सुरसिद्धों के वृन्द आपको विस्मित होकर देख रहे हैं ॥२२॥

---

[1] एतद्व्याख्यानमादर्शे नोपलब्धम् ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्२३

किञ्च । रूपमिति ॥ हे महाबाहो ! महत्कृपाशक्ति युक्त ! ते रूपं दृष्ट्वा लोकास्त्वत्स्वरूप एव स्थिताः प्रव्यथिताः भीता इत्यर्थः । तथा अहं च प्रव्यथितः । भयजनकत्वेन रूपं वर्णयति । बह्वित्यादिविशेषणैः । बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिन् । बहवः बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिन् । बहूनि उदराणि यस्मिन् । बहुभिर्दंष्ट्राभिः करालं भयानकम् । वक्त्रबाहुल्येन गिलनसामर्थ्यं नेत्रबाहुल्येन सर्वतो दर्शनसामर्थ्यं । तेन निलायनाद्यशक्यत्वं । क्रियाबाहुल्येन ग्रहणसामर्थ्यम् । ऊरुपादबाहुल्येन धावनसामर्थ्यं तेनपलायनाद्यशक्तत्वम् । उदरबाहुल्येन जारणसामर्थ्यं । दंष्ट्राबाहुल्येन चर्वणसामर्थ्यं द्योतितम् । अत एवंविधं दृष्ट्वा त्वद्रूपस्थाश्चेल्लोकाः प्रव्यथितास्तदा मम कः संदेह इति तथेतिपदेन द्योतितम् ॥२३॥

हे महत्कृपा शक्ति युक्त ! आपके रूप को देखकर समस्त लोक आपके ही स्वरूप में भय से स्थित हो गये हैं। मैं भी भयभीत हूँ।

भयजनक रूप का वर्णन करता है—अनेक नेत्र वाले, अनेक चरण, उदरवाले, अनेक दंष्ट्राओं से विकराल मुख वाले, (यहाँ मुख बाहुल्य से निगरण सामर्थ्य, नेत्र बाहुल्य से चारों ओर से दर्शन सामर्थ्य विज्ञापित है) (क्रिया बाहुल्य से ग्रहण सामर्थ्य वर्णित है) पाद बाहुल्य से धावन सामर्थ्य, उदर बाहुल्य से जारण सामर्थ्य, दंष्ट्रा बाहुल्य से चर्वण सामर्थ्य । उदर बाहुल्य से जारण सामर्थ्य द्योतित है। अतः एवं विध रूप को देखकर आपके रूप में स्थित लोक यदि घबड़ा गये हैं तो मैं भयभीत हूँ सन्देह ही क्या है. यह तथा पद से द्योतित है ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं,
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा-
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

किञ्च । केवलस्वाधिष्ठितदेहाध्यासेन जीवस्यैव न भयं किंतु त्वदंशस्यान्तरात्मनोऽपि भयं समुत्पन्नमित्याह ॥ नभःस्पृशमिति ॥ नभ आकाशं

स्पृशति तत् आकाशव्यापि ज्ञातुमशक्यं । दीप्तं प्रज्वलत्तेजोराशिं ध्यानैकयोग्यम् । अनेकवर्णम् अनेके शुक्ललोहितादयो वर्णा यस्य तं निश्चययोग्यम् । व्यात्ताननं व्यात्तानि प्रसारितानि आननानि यस्य तं प्रार्थनायोग्यम् । दीप्तविशालनेत्रम् दीप्तानि ज्वलद्रूपाणि विशालानि नेत्राणि यस्य तं दर्शनायोग्यम् । एतादृशं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितः अन्तरात्मा यस्य तादृशो हि निश्चयेन धृतिं धैर्यं शमं शान्तिं न विन्दामि न प्राप्नोमीत्यर्थः । स्वरक्षणार्थं विष्णो इति संबोधनम् ॥२४॥

केवल स्वअधिष्ठित देह के अध्यास से जीव को ही भय नहीं है, किन्तु आपके अंश अन्तरात्मा को भी भय समुत्पन्न हो गया है। आकाश व्यापी (जानने योग्य) प्रज्वल तेजराशि (ध्यान के योग्य) अनेक शुक्ल-लोहित आदि वर्ण वाले (निश्चय योग्य) प्रसारित मुख वाले (प्रार्थना योग्य) ज्वलत् रूप नेत्रवाले (दर्शन योग्य) ऐसे आपको देखकर मेरी अन्तरात्मा व्यथित है। निश्चय से धैर्य शान्ति प्राप्त नहीं करता हूँ। अपने रक्षण के लिये विष्णो ! यह सम्बोधन है ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास २५

किञ्च भयाधिक्येन पुनर्विज्ञापयति ॥ दंष्ट्राकरालानीति ॥ हे देवेश ! सर्वपूज्य ! ते मुखानि दंष्ट्राभिः करालानि । च पुनः । कालानलसन्निभानि प्रलयाग्निसन्निभानि दृष्ट्वैव भयाद्दिशो न जाने गत्वा प्राप्यस्थानं न जानामि । शर्म त्वदवलोकनरूपं च सुखं न लभे । अतो हे जगन्निवास ! जगत्पालक ! जगतः सुखस्थितिरूप ! प्रसन्नो भव प्राप्यं स्थानं दर्शयेतिभावः ॥२५॥

भय की अधिकता से पुनः निवेदन करता है—

हे देवेश ! सर्वपूज्य । आपकी दंष्ट्राओं से कराल भयोत्पादक तथा कालाग्नि को देखकर भय से गन्तव्य स्थान को नहीं जानता हूँ। आपके अवलोकन रूपीसुख को नहीं देखता हूँ। अतः हे जगन्निवास ! जगत्पालक ! जगत् के सुखस्थितिरूप ! प्रसन्न हो तथा प्राप्य स्थान को दिखलाओ ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहाऽस्मदीयैरपि योधमुख्यैः
॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७

एवं भगवत्स्वरूपस्थं जगद्दृष्ट्वा विज्ञाप्य 'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसीति' भगवतोक्तं तदर्थं बाह्यस्थः स्वपरसैन्यस्वरूपज्ञानदर्शनेच्छया दृष्ट्वा विज्ञापयति ॥ अमी चेति । पञ्चभिः । च पुनः । बाह्यस्थाः अमी परिदृश्यमानाः धृतराष्ट्रस्य पुत्रा आलोचनरहिताः सर्वे अवनिपालसंघैः जयद्रथादिसमूहैः सह भीष्मो योद्धा च, द्रोणः शास्त्रविशारदः, सूतपुत्रः कर्णः अस्मदीयैरपि योधमुख्यैः धृष्टद्युम्नादिभिः सह त्वरमाणा वेगवत्तराः दंष्ट्राकरालानि स्वतोऽपि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति प्रविशन्ति । प्रवेशानन्तरं दृष्टमाह । केचित् एके दशनान्तरेषु दन्तच्छिद्रेषु विलग्ना लम्बमानाः चूर्णितैः चूर्णीकृतैः उत्तमाङ्गैः संदृश्यन्ते ॥२६-२७॥

इस प्रकार भगवत्स्वरूपस्थ जगत् को देखकर बतलाकर "और जो कुछ देखना चाहते हो" ऐसा भगवान् का कथन उसका अर्थ स्वपर सैन्य स्वरूप ज्ञानदर्शन की इच्छा से देखकर विज्ञापित करता है ॥२६॥

२ श्लोकों से वर्णन है—ये धृतराष्ट्र के पुत्र जो इस समय नेत्ररहित हैं तथा जयद्रथ प्रभृति राजाओं के साथ यों ही भीष्म एवं शास्त्र विशारद द्रोणाचार्य, सूतपुत्र-कर्ण तथा हमारे योद्धा धृष्टद्युम्न आदि सभी वेगपूर्वक भयानक दंष्ट्राओं के भीतर प्रविष्ट हो रहे हैं। इनमें से कुछ-एक तो दांत के छिद्रों से लटक रहे हैं ॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः,
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवाऽमी नरलोकवीरा विशन्ति,
वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

प्रवेशे दृष्टान्तमाह ॥ यथेति ॥ यथा नदीनां बहुधा प्रसरन्तीनां बहवः अम्बुवेगाः जलप्रवाहाः समुद्रमेव स्वलयस्थानमेव अभिमुखाः सम्मुखाः सन्तो द्रवन्ति प्रविशन्ति तथा अमी नरलोकवीराः अभिविज्वलन्ति परितो दीप्यमानानि तव वक्त्राणि विशन्ति ॥२८॥

प्रवेश में दृष्टान्त बतलाते हैं—यथा बहुधा फैलने वाली नदियों का जलप्रवाह अपने लयस्थान समुद्र की ओर ही दौड़ता है वैसे ही ये नरलोक वीर चारों ओर से देदीप्यमान आपके मुख में प्रविष्ट हो रहे हैं ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवाऽपि वक्त्राणि समृद्धवेगाः
॥२९॥

नदीदृष्टान्ते प्रकटतया नाशो न दृश्यत इति नाशार्थप्रवेशे दृष्टान्तान्तरमाह ॥ यथेति ॥ यथा पतङ्गाः सूक्ष्मकीटाः शलभाः स्वपक्षावेगमदावलिप्ताः नाशाय मरणार्थं प्रदीप्यमानं ज्वलनमग्निं विशन्ति । तथैव समृद्धवेगाः मदावलिप्ता एते लोकाः पूर्वोक्ताः नाशाय मरणाय तवापि वक्त्राणि विशन्ति ॥२९॥

नदी के दृष्टान्त से प्रत्यक्ष नाश नहीं है ऐसा सिद्ध होता है अतः दृष्टान्तर दिया है—यथा प्रदीप्तम्……………………………

जैसे पतङ्ग अपने पक्ष के वेग के मद से मरने के लिये जलती अग्नि में प्रविष्ट होता है वैसे ही मद से पूर्ण ये लोक मरने के लिये ही आपके मुख में प्रविष्ट हो रहे हैं। यदि यह शंका हो कि वे भले ही मुख में प्रविष्ट हो जाँय किन्तु भगवान् न मारें तो वे कैसे मरेंगे। अतः कहा है—॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं-
भासस्तवोग्राःप्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

ननु भगवान् न नाशयेत्तदा किं तत्प्रवेशेनेत्यत आह ॥लेलिह्यस इति॥ ग्रसमानः ग्रासं कुर्वन् समन्तात् सर्वतः समग्रान् लोकान् ज्वलद्भिः देदीप्यमानैर्वदनैः लेलिह्यसे भक्षयसि तथाऽपि तन्नाशेच्छैव दृश्यत इतिभावः ॥ भगवानेवं कथं कुर्यादित आह। हे विष्णो! सर्वपालक सात्त्विकरक्षणार्थमेव। उग्राः तव भासः किरणाः तेजोभिः स्फुरत्कान्तिभिः समग्रं जगदापूर्य प्रतपनसमर्थाः प्रतपन्ति संतापयन्ति ॥ अत्रायं भावः ॥ विष्णुः सात्त्विकाधिष्ठाता सात्त्विकरक्षणार्थमेव दुष्टनाशं करोतीत्यत उचितमेव तथाकरणम् ॥३०॥

समस्त लोकों को ग्रास बनाकर देदीप्यमान वदन से आप भक्षण कर रहे हो, अतः आपकी भी उनके नाश करने की इच्छा दिखलाई दे रही है। भगवान् ऐसा क्यों कर रहे हैं अतः कहता है—हे सर्वपालक! सात्विक भक्तों की रक्षा के लिये ही तपाने में समर्थ। आपकी चमकती हुई किरणें समग्र जगत् को संतप्त करती है। भाव यह है कि विष्णु भगवान् सात्विक अधिष्ठाता हैं अतः सात्विकों की रक्षा के लिये ही दुष्टों का नाश करते हैं जो उचित ही है ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्
॥३१॥

एवं समग्रजगत्तापनेन ममाऽपि संतापो भवत्यतो मयि प्रसन्नो भवेत्याह ॥ आख्याहीति भवान् पूर्वरूपेण परिदृश्यमानः कः? उग्ररूपः कः? एतत् मे मह्यं हि निश्चयेन आख्याहि वद। तदाख्याने किं साधनमित्यत आह। हे देववर! देवश्रेष्ठ! देवाः पूजनेन तुष्यन्ति त्वं तु तेषामपि श्रेष्ठः प्रभुरतस्ते नमोऽस्तु। किमासनं ते गरुडासनायेत्यादिवाक्यैस्तव प्रसादे नमस्कार एव साधनमित्यर्थः। अतः प्रसीद प्रसन्नो भव। ननु प्रसादे स्वरूपाख्यानं किंप्रयोजनकमित्यत आह। विज्ञातुमिति। आद्यं पुरुषोत्तमं मूलभूतं भवन्तं विज्ञातुं विशेषेण सलीलं ज्ञातुमिच्छामि वाञ्छामि। यतस्तव प्रवृत्तिम् अत्र प्राकट्यरूपां चेष्टां लीलां हि निश्चयेन न प्रजानामि स्वरूपाज्ञाने सति तज्ज्ञानमपि भविष्यतीत्यर्थः। एवं सलीलं त्वज्ज्ञानेन भजनं करिष्याम्यतो विज्ञातुमिच्छामीतिभावः ॥३१॥

इस प्रकार जब आप समग्र जगत् को संतप्त कर रहे हो तो मुझे भी संताप होगा। अतः मुझ पर प्रसन्न होओ।

आप कौन हैं, यह उग्ररूप कौन है, इसे आप मुझे निश्चय ही समझाइये। यदि भगवान् शंका करें कि तुमने क्या साधन किया है तो अर्जुन कहता है कि हे देव श्रेष्ठ! देवगण पूजा से सन्तुष्ट हो जाते हैं। आप उनसे भी श्रेष्ठ हो, प्रभु हो अतः आपको नमस्कार हो। ऐसा आता भी है कि "गरुडासन भगवान् को उससे अधिक और कौन सा आसन दिया जाय। अतः आपको प्रसन्न करने के लिये नमस्कार ही सबसे बड़ा साधन है। अतः आप प्रसन्न होओ। यदि प्रसन्न करना है तो स्वरूप की बात जानने का प्रयोजन ही क्या है? अतः कहा है—पुरुषोत्तम! आपको लीला सहित जानना चाहता हूँ क्योंकि आप ही तो आद्य=मूल कारण हो। आपकी प्राकट्य रूप चेष्टा को भी नहीं जानता, स्वरूप ज्ञान होने पर उसका ज्ञान भी हो जायगा। इस प्रकार लीला सहित आपके ज्ञान से भजन करूंगा। अतः जानना चाहता हूँ, यह भाव है ॥३१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो,
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे,
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

एवं विज्ञप्तः सन् ॥ श्रीभगवान् उवाच ॥ कालोऽस्मीति त्रयेण। लोकक्षयकृत् लोकानां विनाशकः प्रवृद्धः ऊर्जितः लोकान् प्राणिनः इह वाहुतः समाहर्तुं संहर्तुं स्वलीनान् कर्तुं प्रवृत्तः कालोऽस्मि। यद्दर्शनान्तरेषु योधास्त्वया दृष्टास्तत्कालात्मकं मत्स्वरूपमितिभावः। त्वां द्रष्टारं मत्कृपापात्रम् ऋते विना प्रत्यनीकेषु अनीकानि प्रत्यवस्थिताः ये योधास्ते सर्वेऽपि न भविष्यन्ति न स्थास्यन्तीति। यतोऽहं कालरूपः सर्वसंहारार्थं प्रवृत्तोऽस्मि। त्वाम् ऋते सर्वे न भविष्यन्तीत्युक्त्या त्वदर्थमेवैते मारिता इतिज्ञापितम् ॥३२॥

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने कहा—

मैं लोकों का विनाशक हूँ, वृद्ध अर्थात् अजित हूँ। प्राणियों को बाहर से अपने में लीन करने को प्रवृत्त काल हूँ। जो दोनों में योद्धा देखे थे वे कालात्मक मेरे स्वरूप थे। मेरे कृपापात्र केवल तेरे बिना शत्रुपक्ष में स्थित योद्धा भी नहीं रहेंगे। क्योंकि मैं कालरूप होकर सबके संहार के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। तेरे बिना और नहीं रहेंगे—इस कथन से यह सिद्ध किया है कि तेरे लिये ही इन्हें मारा गया है ॥३२॥

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व,
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव,
निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अतएव त्वमनायासेन यशो गृहाणेत्याह ॥ तस्मादिति ॥ हे सव्यसाचिन् ! सव्येन वामेन हस्तेन सचितुं संधातुं शीलं यस्य तादृशस्त्वम् उत्तिष्ठ युद्धार्थं सज्जो भव। यशो लभस्व सव्यहस्तेनैव सर्वे मारिता इत्यादिरूपम्। शत्रून् दुर्योधनादीन् जित्वा समृद्धं राज्यं भुङ्क्ष्व। एते मया पूर्वमेव त्वन्मारणात् प्रथममेव निहताः मारिता अतो निमित्तमात्रं भव लोककथनार्थमर्जुनेन सर्वे मारिता इति ॥३३॥

तुम अनायास ही यश लाभ करो। अतः कहा है—

हे वामहस्त से लक्ष्यवेध करने वाले अर्जुन ! युद्ध को खड़े हो, यश प्राप्त करो, दुर्योधनादि शत्रुओं को जीतकर राज्य भोगो। ये सब तेरे मारने से पूर्व ही मैंने मार डाले हैं, अतः निमित्त मात्र वाले ! "लोक कथनमात्र के लिये कि शत्रुओं को अर्जुन ने मार डाला" इतना ही निमित्त बनो ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च,
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा,
युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोणो ब्राह्मणत्वाद्भगवता कथं वध्यः, तथा भीष्मो भक्तः, तथैव जयद्रथः शिवात्प्राप्तप्रसादः, कर्णः कुन्तीपुत्रः, एतेषाममारणे कथं जयो भवेदतस्तान्नाम्ना प्राह ॥ द्रोणं चेति ॥ च पुनः। ब्राह्मणमपि द्रोणं, भीष्मं च भक्तमपि, जयद्रथं चकारेण प्राप्तवरमपि, कर्णं च कुन्तीपुत्रमपि तथाभूतानन्यानपि योधवीरान् युद्धविशारदान् मया हतांस्त्वं जहि मारय। स्वहतत्वोक्त्या 'इषुभिः कथं पूजार्हान् प्रतियोत्स्यामीति' यत् पूर्वमुक्तं स दोषोऽत्रानुकूल्यकरणेन निवारितः। यत एते मया हता अतो निःशङ्कं युद्धस्व रणे सपत्नान् शत्रून् जेतासि जेष्यसि ॥३४॥

द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, भीष्म भक्त थे, जयद्रथ शिवजी का वर प्राप्त कर चुका था, कर्ण कुन्तीपुत्र था इनका वध उचित नहीं और इनको बिना वध किये, जय कहाँ है? अतः कहा है—"द्रोणं च भीष्मं च" द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य योद्धाओं को तू मार ! ये मेरे द्वारा मरे ही हैं अतः निःशंक होकर युद्ध कर।

अर्जुन ने कहा था "इषुभिः प्रतियोत्स्यामि" मैं पूज्यों पर बाण कैसे चलाऊँगा, उसका उत्तर यहाँ दिया है ॥३४॥

॥ संजय उवाच ॥

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य,
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं,
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

ततोऽर्जुनः किं कृतवानित्याकांक्षायां संजयो धृतराष्ट्रं प्रत्याह ॥ एतदिति ॥ एतत् पूर्वोक्तं केशवस्य ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षदातुः वचनं श्रुत्वा किरीटी अर्जुनः वेपमानः भगवता राजभोगे विनियुक्तस्तदयुक्तं मन्वानो मोक्षाभिलाषवत्वात् कम्पमानो जातः। ततो विज्ञापनार्थं कृताञ्जलिः। भीतभीत इति। भगवदाज्ञायां पुनर्विज्ञापने कदाचिदप्रसन्नो भवेदिति महाभीतः सन् प्रणम्य प्रकर्षेण मनसा नमस्कृत्य कृष्णं सदानन्दं सगद्गदं प्रेमोपरुद्धकण्ठं यथा तथा भूयः पुनः नमस्कृत्यैव अतीव दीनो भूत्वा आह विज्ञप्तिं कृतवानित्यर्थः ॥३५॥

अर्जुन ने फिर क्या किया, इस आकांक्षा में संजय ने धृतराष्ट्र से कहा············

केशव (ब्रह्मा, शिव के भी मोक्षदाता) के वचन को सुनकर अर्जुन काँपने लगा (भगवान् ने राजभोग में विनियोग किया, यह अनुचित था, अतः अर्जुन काँपने लगा था) इसे विज्ञापित करनेके लिये ही हाथ जोड़ लिये। महाभीत भी इसलिए हुआ कि पुनः पुनः कहने से भगवान् अप्रसन्न न हो जाँय। कृष्ण को प्रणाम कर प्रेम से रुके कण्ठ वाला बार-बार नमस्कार करके अत्यन्तदीन होकर बोला ॥३५॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति,
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

किमर्जुनो विज्ञापितवानित्याकांक्षायामर्जुनवाक्यान्याह ॥ अर्जुन उवाच ॥ स्थान इत्येकादशभिः एकादशेन्द्रियैरपि गुह्यं विज्ञाप्यमित्येकादशभिर्विज्ञापयति। हे हृषीकेश यतस्त्वं सर्वेन्द्रियप्रेरकस्ततस्मात् स्थाने स्थितौ तव प्रकीर्त्या तव गुणसंकीर्तनेन जगत् प्रहृष्यति हर्षमाप्नोति। च पुनः। अन्यत् कीर्तनश्रवणेन अनुरज्यते अनुरागयुक्तं भवति। ननु बाधकेषु विद्यमानेषु कीर्तनं कर्तुं कथं शक्यमित्याशङ्क्य कीर्तनेनैव बाधनाशो भवतीत्याह। रक्षांसीति। तव कीर्तनेनैव भीतानि सन्ति रक्षांसि दिशः प्रति द्रवन्ति पलायन्ते। तथा सिद्धसङ्घाः सिद्धानां प्राप्तज्ञानानां समूहाः नमस्यन्ति प्रणमन्तीत्यर्थः ॥३६॥

अर्जुन ने क्या कहा इसे—११ श्लोकों से कहते हैं। भगवान् एकादश इन्द्रियों के गुह्य होने पर ही समझे जा सकते हैं, अतः ११ श्लोकों से निवेदन किया। 'हे इन्द्रिय प्रेरक! स्थिति में तुम्हारे गुण संकीर्तन से जगत् प्रसन्न होता है। कीर्तन श्रवण से अनुराग युक्त होता है। यदि यह विचार किया जाय कि बाधकों के विद्यमान रहने पर कीर्तन कैसे किया जा सकता है, अतः कहते हैं कीर्तन द्वारा ही बाधाओं का

नाश होता है, अतः कहा है—आपके कीर्तन मात्र से ही राक्षस भयभीत होकर मारे जाते हैं सिद्धों के समुदाय आपको प्रणाम करते हैं ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्तदेवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

ननु सिद्धाः किमिति नमन्तीत्यत आह ॥ कस्मादिति। हे महात्मन् महतामात्मस्वरूप यस्मात्तेषां भक्तानां स्वरूपं त्वमेवातस्ते तुभ्यं कस्मान्न नमेरन् न नमस्कुर्युः कीदृशाय गरीयसे गुरवे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे जनकाय। किञ्च। हे अनन्तदेवेश अनन्तानां देवानाम् ईश प्रभो! हे जगन्निवास! सकलाश्रय! अक्षरंत्वमेव सत् असच्च सर्वं त्वमेव यत् परं पुरुषोत्तमाख्यं ब्रह्मतत्त्वम् अतो नमन्तीत्यर्थः ॥३७॥

यदि यह शंका हो कि सिद्ध क्यों नमस्कार करते हैं तो कहते हैं कि—

भक्तों के स्वरूप आप ही हो, अतः तुम्हें क्यों नमस्कार न करें, आप तो जगत् रचयिता ब्रह्मा के भी जनक हो। हे अनन्तदेवों के स्वामी! हे जगदाश्रय! सत् अक्षर आप हो और असत् भी आप हो। परं—अर्थात् पुरुषोत्तमाख्य ब्रह्मतत्व आप ही हो, अतः आपको नमस्कार करते हैं ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ३८

किञ्च ॥ त्वमादिदेव इति ॥ त्वं देवानामादिः। तथा त्वं ब्रह्माऽप्यसीत्यत आह। पुरुषः। तत् त्वमक्षरेऽपि वर्तस इत्यतः पुराणः पुरुषोत्तम इत्यर्थः। पुरुषोत्तमधर्मनिबाह। त्वम् अस्य परिदृश्यमानस्य विश्वस्य परम् उत्कृष्टम् आधिदैविकरूपेण स्वस्मिन् स्थानं स्वरतीच्छारूपं निधानं लयस्थानं परं विश्वस्यक्रीडाप्रकटितस्वरूपज्ञानेन सर्वत्र रमणकर्ता त्वम् असि विश्वस्य विश्वस्मिन् वा वेद्यं ज्ञेयं त्वं च त्वमेवेत्यर्थः। च पुनः परं धाम वैकुण्ठाख्यं तेजोरूपं पुरुषोत्तमगृहात्मकं वा त्वम् हे अनन्तरूप! इदं विश्वं त्वया ततं व्याप्तं त्वद्रूपमेवेत्यर्थः। अनन्तरूपमिति ॥३८॥

आप देवों में प्रथम हो। ब्रह्म भी हो। अक्षर में भी विद्यमान हो, अतः पुराण पुरुषोत्तम हो। पुरुषोत्तम के धर्म बतलाते हैं—आप इस दृश्यमान विश्व से भी उत्कृष्ट हो, आधिदैविक रूप से अपनी रतीच्छा रूप निधान=लयस्थान हो, क्रीडा प्रकटित स्वरूप ज्ञान से सर्वत्र रमणकर्ता हो। इस सम्पूर्ण विश्व में आप ही ज्ञेय हो=जानने योग्य हो। आप ही वैकुण्ठ धाम रूप हो अथवा पुरुषोत्तम गृहस्वरूप हो। हे अनन्त रूप ! यह विश्व आपका ही रूप है ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमोनमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ३९

वायुरिति ॥ वायुः सर्वप्रेरकः सर्वप्राणरूपः, यमः सर्वनियमनः, अग्निः सर्वाधारः वरुणः जलाधिपः सर्वरसपूरकः, शशाङ्कः सर्वानन्दकरः, प्रजापतिः सर्वोत्पादकः। च पुनः प्रपितामहः ब्रह्मणोऽपि पिता अतः सर्वरूपस्त्वं तस्मात् पूर्वोक्ताः कथं तुभ्यं न नमस्कुर्युः। अतः सर्वरूपत्वादाधिदैविकत्वात् त्वमेव नमस्यः। अतोऽहमपि नमस्करोमि सहस्रकृत्वः सहस्रशः ते तुभ्यं नमोनमोऽस्तु ! अस्त्वितिपदेन त्वमङ्गीकुर्विति ज्ञापितम्। पुनश्चाङ्गीकारानन्तरमपि भूयः वारं वारं ते नमोनमः करोमीत्यर्थः ॥३९॥

सबके प्रेरक या प्राणरूप वायु हो, सबके नियमनकर्ता हो, सबके आधार हो, जलों के स्वामी हो=सम्पूर्ण रसों के पूरक हो ! सर्वानन्दकारी हो। शिव के उत्पादक हो। ब्रह्मा के भी पिता हो, सर्वरूप हो अतः सिद्ध आपको नमस्कार क्यों न करें। आधिदैविक के कारण आप ही नमस्कार योग्य हो। अतः मैं भी आपको सहस्रबार नमस्कार करता हूं। अस्तुपद का अभिप्राय है कि आप भी इसे अङ्गीकार करें। अङ्गीकार के पश्चात् भी मैं बारम्बार आपको नमस्कार करता हूं ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

किंच ॥ नम इति ॥ हे सर्व ! सर्वात्मन् ! पुरस्तात्पूर्वदिशि पृष्ठतः पश्चिमायां सर्वतः दक्षिणोत्तरकोणादिषु सर्वासु दिक्षु ते नमोनम एवाऽस्तु 'किमासनं ते गरुडासनाय' इत्यादिवाक्येनान्यत्किञ्चिदपि कर्तुं शक्यमितिभावः। इदमेवैवकारेण व्यञ्जितम्। यद्वा पृष्ठतः पश्चात् सर्वतः दक्षिणोत्तरादिभागेषु नमः कृतो नमस्कारः ते पुरस्तादेव पूर्वभाग एव सम्मुख एवास्त्विति वार्थः॥ ननु पश्चाद्भागकृतो नमस्कारः कथं पूर्वभागीय स्यादत आह। अनन्तेति। अनन्तं वीर्यं सामर्थ्यम् अमितो बहुतरः पराक्रमो यस्य तादृशस्त्वं सर्वं जगत् समाप्नोषि तत्तद्रूपनामभेदेन सर्वरूपो भूत्वा वर्तसे ततः सर्वः सर्वरूपस्त्वमसि अतः पृष्ठतोऽपि नमस्कृतो पूर्वभागो न बाध्यत इत्यर्थः ॥४०॥

हे सर्वात्मन्, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं उनके कोणों में भी आपको नमस्कार हो। "गरुडासन को क्या आसन दिया जाय" इत्यादि वाक्यों से और कुछ भी करना शक्य नहीं है। यह भाव 'एव' पद से व्यक्त है। अथवा आपके पीछे किया हुआ नमस्कार, कोणों से किया नमस्कार भी आपके सम्मुख आवे यह 'वा' शब्द का अर्थ है। पीछे के भाग में किया नमस्कार आगे कैसे आयेगा, अतः कहते हैं—आप अमित पराक्रम वाले हो अतः सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होकर स्थित हो उन-उन नामरूप भेदों वाले स्वयं बनते हो। अतः पीछे की ओर नमस्कार करने पर भी कोई बाधा नहीं है ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि ४१
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्याऽऽसनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युतं तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ४२

एवं नमस्कृत्य पूर्वाज्ञानजातापराधान् क्षमापयति ॥ सखेति ॥ द्वयेन। मया तव इदं पुरुषोत्तमत्वेन सर्वरूपात्मकरूपं महिमानमजानता प्रमादादनवधानतया प्रणयेन स्नेहेन वाऽपि प्रसभं बलात्कारेण अकार्येषु योजनार्थं हे कृष्ण इति नामत्वेन न तु सदात्मकत्वेन, हे यादव इति तत्कुलोद्भवत्वेन न तु तदुद्धारार्थप्रकटत्वेन, हे सखेति मित्रत्वेन लौकिकबुद्ध्या न तु परमात्मत्वेन यदुक्तं च। पुनः। सखेति मत्वा अवहासार्थमिथ्यावादादिभिः एकः केवलो मां विहाय विहारादिकं करोषीत्यादिभिः। अथवा मत्समक्षं विहारे द्यूत-

मृगयादिषु स्वजनत्वमुद्भावयता शय्यायां सहशयनेन, आसने सहोपवेशेन, भोजने सहभुक्त्वा इत्यादिषु यत् असत्कृतोऽसि अवगणितोऽसि हे अच्युत ! च्युतिरहित ! स्वाङ्गीकृतपरिपालक ! अहं त्वाम् अप्रमेयं प्रमातुमयोग्यं तत्सर्वं क्षामये क्षमां कारयामि । अप्रमेयत्वेनाऽज्ञानजाऽपराधनिवृत्तिः सूचिता ॥४१-४२॥

नमस्कार करके पूर्वकृत अपराधों से क्षमा की याचना करता है दो श्लोकों से—

मैंने सर्वरूपात्मक आपकी महिमा को न जानकर अनवधानता से या स्नेह से या बलात् अकार्यों में लगाने के कारण, हे कृष्ण इस नाम से न कि सदाशय भाव से, हे यादव, ऐसा यदुकुल में उत्पन्न होने के कारण कहा, उनके उद्धार प्रकटन के लिये नहीं। "हे सखा शब्द" मित्रत्व लौकिक बुद्धि से कहा न कि परमात्मत्व से—ऐ जो कहा है और सखा मानकर जो आपसे कहा कि "मुझे छोड़कर विहारादिक करो, हो" आदि अथवा मेरे सामने विहार में—मृगया, द्यूत आदि में स्वजन मानकर, साथ-साथ शयन, आसन पर बैठना, साथ भोजनादि से जो अत्याचार किया है सो हे अच्युत ! च्युति रहित ! अपने अङ्गीकार किये के पालन करने वाले मैं तुम्हारा पता नहीं लगा सकता (थाह नहीं पा सकता) अतः इन दोषों को क्षमा कराऊँगा । अप्रमेयत्व कथन से अज्ञान जन्य अपराधों की निवृत्ति सूचित की गई है ॥४१-४२॥

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

क्षमापने संबन्धस्यावश्यकत्वायाह ॥ पितेति ॥ अस्य चराचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वा[1] पिता उत्पादकः, च पुनः गरीयान् पूज्यः देवोत्तमः तद्द्रष्टा गुरुः त्वमसि । तर्हि त्वत्समो भविष्यतीति नेत्याह । हे अप्रतिमप्रभाव ! उपमारहितानुभाव ! लोकत्रये अन्यस्त्वत्समोऽपि नास्ति कुतोऽभ्यधिको भवेत् येन त्वं तत्समः स्याः ॥४३॥

क्षमापन में सम्बन्ध की आवश्यकता बतलाते हैं—

इस चराचर जगत् अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय के उत्पादक आप ही हो "अत्ता चराचरग्रहणात्" इस ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मक्षत्र का उल्लेख किया है अतः अप्रतिपाद्य होने पर भी यहाँ उसे रखा गया है) आप ही पूज्य हो, देवोत्तम हो, द्रष्टा हो । तो तुम्हारे समान कोई नहीं है ? अतः कहा है—हे उपमा रहित अनुभाव वाले ! तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं है तो अधिक की कल्पना ही व्यर्थ है ॥४३॥

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं,
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः,
प्रियः प्रियायार्हसि देवसोढुम् ॥४४॥

यतः सर्वेषां पिता गुरुः पूज्यश्च त्वमेवाऽतो ममापि सर्वं त्वमेवेति मदपराधं क्षन्तुमर्हसीति विज्ञापयति ॥ तस्मादिति ॥ तस्मात्कारणात् अहं त्वाम् ईशं प्रभुम् ईड्यं स्तुत्यं, कायं प्रणिधाय दण्डवत् पतित्वा प्रणम्य नत्वा प्रसादये प्रसादयामि ! हे देव । जगत्पूज्य ! त्वं पूर्वोक्तान् ममापराधान् सोढुम् अर्हसि क इव ? पुत्रस्य पितेव सख्युर्मित्रस्य सखा इव प्रियायाः प्रीतियोग्यायाः स्त्रियाः प्रिय इव ॥४४॥

सबके पिता गुरु और पूज्य आप ही तो हैं, अतः मेरे ही सर्वस्व आप हैं, अतः मेरे अपराध क्षमा करें, अतः कहता है 'तस्मात्' इस कारण मैं सर्वसमर्थ, स्तुति योग्य, आपके चरणों में गिरकर प्रसन्न करता हूँ हे देव जगत् पूज्य ! आप पूर्वोक्त मेरे अपराधों को सहन करने योग्य हो उसी प्रकार हो जिस प्रकार पुत्र के अपराध को पिता मित्र के अपराध को मित्र, प्रिया के अपराधों को प्रिय सहन करता है ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

एवं क्षमाप्य विज्ञापयति ॥ अदृष्टपूर्वमिति ॥ द्वयेन । अदृष्टपूर्वं तव रूपं विश्वात्मकम् अनेककलोलायुतं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि हर्षं प्राप्तोऽस्मि । च पुनः । मे मनः भयेन प्रव्यथितं प्रकर्षेण व्यथां प्राप्तम् ॥ अयं भावः द्रष्टुकामस्य तादृशं रूपं दर्शयित्वा पुरुषोत्तमदर्शनवतोऽन्यरूपदर्शनाभिलाषापराधिनः पुनः पुरुषोत्तमरूपं दर्शयिष्यति नवेति भयमभूत् । अतः प्रसादं प्रार्थयित्वातद्दर्शनं

---

[1] अत्ता चराचरग्रहणादिति सूत्र विषयवाक्यस्थब्रह्मक्षत्रयोश्चराचरत्वप्रतिपाद्यत्वेऽप्यत्रापि तथैव व्याख्यातम् ।

प्रार्थयति देवेश ! देवानामपीन्द्रादीनाम् ईश ! नियामक ! जगन्निवास ! प्रसीद प्रसन्नो भव प्रसन्नो भूत्वा हे देव ! सेवनार्थं तदेव पुरुषोत्तमरूपं दर्शय ॥४५॥

इस प्रकार क्षमा की याचना कर विज्ञापन करता है—

आपके कभी न देखे विश्वात्मक रूप को देखकर बड़ा ही हर्ष हो रहा है, और अब मेरा मन भयभीत भी है भाव यह है, कि आपने मुझे मेरी भावना के अनुरूप दर्शन दे दिया, किन्तु पुरुषोत्तम दर्शन योग्य है उससे भिन्न का दर्शन कर लिया है, जो अपराध है अब वही पुरुषोत्तम रूप दिखलाई देता या नहीं, अतः भय हुआ है ! अतः कृपा की प्रार्थना कर दर्शन की प्रार्थना करता है—हे इन्द्रादि देवों के भी देव ! जगन्निवास ! प्रसन्न होकर, हे देव ! सेवन के लिये उसी पुरुषोत्तम रूप का दर्शन दो ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

रूपं विशिनष्टि किरीटिनमिति ॥ किरीटवन्तं गदावन्तं चक्रहस्तं त्वामहं तथैव पूर्ववदेव द्रष्टुमिच्छामि । अतो हे सहस्रबाहो ! अगणितक्रियाशक्तिमन् ! विश्वमूर्ते ! तेनैव चतुर्भुजेन रूपेण भव प्रकटो भवेत्यर्थः ॥४६॥

किरीटयुक्त गदायुक्त चक्र धारण किये आपको पूर्ववत् ही देखना चाहता हूँ । अतः हे सहस्रबाहो ! अगणित क्रियाशक्ति वाले विश्वमूर्ति भगवन् ! उसी चतुर्भुज रूप से प्रकट होवें ॥४६॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मया प्रसन्नेन तवाऽर्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ४७

एवं प्रार्थितोऽर्जुनमाश्वासयन् स्वरूपं दर्शयामास तत्र पूर्वमाश्वासनमाह ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ मयेति ॥ हे अर्जुन ! मया सर्वदा त्वयि प्रसन्नेन आत्मयोगात् स्वकीयत्वयोगाच्च तव परम् इच्छया इदं रूपं दर्शितम् कीदृशं तेजोमयं विश्वं विश्वात्मकम् अनन्तम् अन्तरहितम् आद्यं सनातनं यत् मे

रूपं त्वदन्येन त्वां विना केनाऽपि दृष्टपूर्वं न तादृशं रूपं त्वदिच्छया दर्शितमित्यर्थः ॥४७॥

इस प्रकार प्रार्थना करने वाले अर्जुन को आश्वस्त कर स्वरूप का दर्शन कराया । आश्वासन कहते हैं—मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, अतः इच्छा से ही यह दर्शन दिया है । यह तेजोमय रूप विश्वात्मक है, अन्तरहित है सनातन है और यह रूप तेरे बिना किसी अन्य ने देखा भी नहीं है । यह रूप तेरी इच्छा से दिखाया है ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

एवं त्वदिच्छयैवेदं रूपं दर्शितमिदानीं च पूर्वतनमेव रूपं पश्य दर्शनीयस्य रूपस्य दुर्लभत्वायाऽर्जुनेकृपाऽभिवक्ष्यमाह ॥ न वेदेति ॥ न वेदयज्ञाध्ययनैः वेदानां सार्थकशब्दात्मकानां यज्ञानामानुपूर्व्याविच्छिन्नविद्याक्रियाणाम् अध्ययनैः, न दानैः तुलापुरुषादिभिः, न च क्रियाभिरग्निहोत्रादिरूपाभिः, न तपोभिरुग्रैः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः नृलोके मनुष्यलोके एवंरूपः अहं पुरुषोत्तमः हे कुरुप्रवीर ! भक्तकुलश्रेष्ठ ! त्वदन्येन त्वामपहायान्येन द्रष्टुं पूर्वोक्तैः साधनैरपि न शक्यः न समर्थः ॥४८॥

तेरी इच्छा से यह रूप दिखाया गया है । अब पूर्वदृष्ट रूप को ही देखो । दर्शनीय रूप के दुर्लभ होने से कृपाविषय कहते हैं, सार्थक शब्द वेदों से, यज्ञों से आनुपूर्वी सहित अध्ययन से दान से—तुला पुरुषादि से, अग्नि होत्रादि रूप क्रियाओं से, कृच्छ्र चान्द्रायणादि उग्रतपों से भी इस मनुष्य लोक में मैं पुरुषोत्तम देखने योग्य नहीं हूँ । तेरे अतिरिक्त कोई भी पूर्वोक्त साधनों से मेरा दर्शन नहीं कर सकता ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो,
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं,
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

यदन्येन न शक्यस्ततः पूर्वोक्तभयाऽऽशङ्कादिरहितस्तदेव रूपं पश्येत्याह ॥ मा त इति ॥ ते व्यथा न दर्शयिष्यामीत्यादिरूपा माऽस्तु । च पुनः । मम

घोरं भयानकम् ईदृक् सर्वग्रसनादिधर्मसंयुक्तम् इदं परिदृश्यमानं दृष्ट्वा विमूढभावः मोहरूपो माऽस्तु । व्यपेतभीः विगतभयः प्रीतमनाः संस्तदेव पूर्वदृष्टमेव मे इदं रूपं प्रपश्य प्रकर्षेण यथाऽभिलाषं भक्तियुतः पश्येत्यर्थः ॥४९॥

जिसे अन्य नहीं देख सकते, उसे पूर्वोक्त भय आशङ्का आदि से रहित होकर उसी भय को देख मैं नहीं दिखाऊँगा ऐसी व्यथा न करो । मेरे भयंकर सबको ग्रसने वाले भय को देखकर मोहरूप को प्राप्त न कर । भय रहित होकर प्रसन्न चित्त होकर पूर्वदृष्ट मेरे इस रूप को यथाभिलाष भक्ति युक्त होकर देख ॥४९॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो,
दृष्ट्वा रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं,
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

एवमुक्त्वा स्वरूपं दर्शयामासेति संजय आह ॥ इतीति अमुना प्रकारेण वासुदेवः मोक्षदाता परमकृपालुः अर्जुनं तथा पूर्वप्रकारेणोक्त्वा स्वकं स्वीयं पुरुषोत्तमरूपं भूयः पुनः दर्शयामास एवं दर्शयित्वा सौम्यवपुर्भूत्वा च पुनः पूर्वरूपदर्शनभीतम् एनम् अर्जुनं पुनराश्वासयामास । नन्वेवं वारं वारं कथं कृतवानित्यत आह । महात्मेति महांश्चासौ आत्मा च तेन कृपया तथा कृतवानितिभावः । यद्वा महतां भक्तानाम् आत्मा अतो भक्तत्वात्तथा कृतवानित्यर्थः ॥५०॥

यह कहकर अपना स्वरूप अर्जुन को दिखाया । संजय ने कहा—

इस प्रकार से मोक्षदाता वासुदेव ने अर्जुन को पुरुषोत्तम रूप के दर्शन करा दिये इस प्रकार सौम्य वपु होकर पूर्वरूप दर्शन से भयभीत इस अर्जुन को आश्वस्त किया । यदि यह कहें कि बार-बार क्यों किया अतः कहा है—महान् आत्मा उसने कृपा से किया । अथवा बड़े भक्तों के आत्मा होने से ऐसा किया ॥५०॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

दर्शितस्वरूपं दृष्ट्वाऽर्जुनो विज्ञापयति ॥ दृष्ट्वेति ॥ हे जनार्दन ! अविद्यानाशक ! इदं पुरतो दृश्यमानं मानुषं मनुष्यैर्द्रष्टुं योग्यं सौम्यं दयापरीतं दयायुक्तं तव रूपं दृष्ट्वा इदानीम् अधुना सचेताः सावधानचित्तः संवृत्तः जातोस्मि । प्रकृतिं भक्तिरूपां गतः प्राप्तोऽस्मि ॥५१॥

दर्शित रूप को देखकर अर्जुन ने कहा—हे अविद्यानाशक ! यह प्रत्यक्ष दृश्यमान मनुष्यों के देखने योग्य दयापर तेरे रूप को देखकर सावधान चित्त हो गया हूँ । भक्तिरूप प्रकृति को प्राप्त हो गया हूँ ॥५१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥

स्वस्य रूपस्य स्वानुग्रहैकसाध्यत्वेन परमदुर्लभत्वमाह ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ सुदुर्दर्शमिति ॥ इदं परिदृश्यमानं मम रूपं सुदुर्दर्शं सुष्ठु दुःखेनाऽपि द्रष्टुमशक्यं यत् त्वं दृष्टवानसि देवा अपि मत्क्रीडायोग्या मदंशा अपि अस्य नित्यं प्रत्यहं दर्शनकाङ्क्षिणः दर्शनेच्छावन्तस्तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ अत्रायं भावः ॥ ब्रह्माऽऽदयो देवाः श्रीदेवकीगृहे स्तुत्वा गतास्तदा गर्भ एव प्राकट्यं न बहिः, बहिः प्राकट्यानन्तरं तु मातृप्रार्थनया तिरोहितं कृत्वा ध्यानाऽऽस्पदत्वेन स्थापितं देवादीनां तु तद्वृत्तान्ताऽज्ञानाद्वेदोक्तरीत्या भजनात्तादृक्स्वरूपदर्शनमेवभवति इदं च स्वरूपं भावात्मकं वेदाद्यगम्यं भक्तमुखात् श्रुतत्वात्काङ्क्षिणस्तिष्ठन्तीति तथा ॥५२॥

अपने रूप की जो अनुग्रह द्वारा ही देखने योग्य है परम दुर्लभता बतलाते हैं । यह परिदृश्यमान मेरा रूप दुःख से भी देखने योग्य नहीं है जिसे तुमने देखा है । देवता भी मेरे क्रीडायोग्य मेरे अंश हैं, इस रूप के दर्शन के इच्छुक हैं । ब्रह्मादि देव श्रीदेवकी के गर्भ में स्तुति करके चले गये तो प्राकट्य गर्भ में ही है, बाहर नहीं । बाह्य प्राकट्य के अनन्तर माता की प्रार्थना से अपना रूप तिरोहित कर लिया। ध्यानास्पद से स्थापित देवादिकों के उस वृत्तान्त के अज्ञान से वेदोक्त रीति से भजने से उस प्रकार का स्वरूप दर्शन होता है । यह स्वरूप भावात्मक वेदादि द्वारा भी अगम्य है, भक्त के मुख से सुनकर आकांक्षायुक्त रहते हैं ॥५२॥

नाऽहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

ननु ते वेदाद्युक्तसाधनैः कथं न पश्यन्तीत्यत आह ॥ नाहमिति ॥ यथात्वं मां दृष्टवानसि एवंविधः पुरुषोत्तमोऽहं परिदृश्यमानवेदैः वेदोक्तसाधनैः वेदैरेव वा न,अतएव यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेत्युक्तम् । तपसा क्लेशात्मकेनाऽपि न, दानेन सर्वस्वदक्षिणात्मकेन न, इज्यया यागेन न द्रष्टुं शक्यः ॥५३॥

यदि यह कहें कि वेदादि उक्त साधनों से क्यों नहीं देखते अतः कहा है—

जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकार के पुरुषोत्तम रूप को वेदोक्त साधनों अथवा वेदों से भी नहीं देख सकते । वेद में लिखा भी है जहाँ वाणी भी नहीं जाती तैत्तरीय उपनिषद् में कहा है । क्लेशात्मक तपस्या से भी नहीं, सर्वस्व दक्षिणात्मक दान से भी नहीं, यज्ञ से भी देखा नहीं जाता ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ! ॥५४॥

तदा कथं द्रष्टुं शक्य इत्यत आह ॥ भक्त्येति ॥ हे अर्जुन ! हे परन्तप ! इति स्नेहेन वीप्सया संबोधनम् एवंविधोऽहम् अनन्यया न विद्यते अन्य पारलौकिकैहिकयत्नो यस्यां तादृश्या भक्त्या तत्त्वेन याथार्थ्यस्वरूपेण ज्ञातुं च पुनरलौकिकभावदृष्ट्या द्रष्टुं च पुनः प्रवेष्टुम् अलौकिकरूपेण लीलासु सेवनार्थं शक्यः अस्मीतिशेषः ॥५४॥

तब कैसे देखा जाय अतः कहा है—हे परन्तप ! स्नेह के कारण पुनरुक्ति है । मुझे पारलौकिक ऐहिक यत्न भक्ति तत्त्व से याथार्थ्य स्वरूप से अलौकिक भाव दृष्टि से देखने, पुनः प्रवेश पाने को अलौकिक रूप में सेवन को शक्य हूँ ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

इतिश्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो
नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥

नन्वनन्यभक्तः कथं ज्ञेय इत्याकांक्षायामाह ॥ मत्कर्मकृदिति ॥ मदर्थं स्वस्य सहजदासत्वेन नतु कामनया कर्म सेवादिरूपं करोति स तथा । मत्परमः अहमेव परमः सर्वस्वं यस्य । मद्भक्तः मद्भजनकृत् मदाश्रितो वा । संगवर्जितः पुत्रादिलौकिकाऽर्वैष्णवादिसंगवर्जितः । सर्वभूतेषु निर्वैरः द्वेषरहितः हे पाण्डव उत्पत्त्यैव भक्त ! एवंविधो यः स माम् एति प्राप्नोति सः अनन्यो ज्ञातव्य इतिभावः ॥५५॥

प्रदर्श्य विश्वरूपं स्वं दृढीकृत्याऽर्जुनाय वै ।
श्रीकृष्णः साधनाऽसाध्यं स्वस्वरूपमदर्शयत् ॥१॥

इतिश्रीगीताऽमृततरङ्गिण्यां विश्वरूपदर्शनयोगोनामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

अनन्य भक्त कैसे जाना जाय ? अतः कहा है—मेरे लिये सहजदास की भावना से कर्म करो, कामना से नहीं (सेवादि रूप कर्म करे) मुझे ही सर्वस्व समझे । मेरा भजन करता हुआ मेरे आश्रित रहे । सङ्गरहित पुत्रादिलौकिक अवैष्णव आदि के सङ्ग का त्याग करे । सब जीवों से प्रेम करे, हे पाण्डव ! अर्थात् जन्म से ही भक्त । जो इस प्रकार होता है वह मुझे ही प्राप्त होता है, वह अनन्य है ॥५५॥

कारिकार्थः—अपने विश्वरूप दर्शन से अर्जुन को दृढ़ करके श्रीकृष्ण ने अपना साधनों से भी असाध्यरूप प्रदर्शित किया ॥१॥

इति गीतामृत तरङ्गिण्यां विश्वरूप दर्शन योगोनामैकादशोऽध्यायः ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अध्याय १२

॥ अर्जुन उवाच ॥

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
येचाऽप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

श्रीकृष्णाय नमः ॥ पुरुषोत्तमभक्तानामक्षराऽभिनिवेशिनां ।
स्वरूपतारतम्यार्थं श्रीकृष्णं अर्जुनोऽब्रवीत् ॥१॥

पूर्वाध्यायान्ते मत्कर्मकृदित्यनेन भक्तानां स्वभजनैकनिष्ठानां स्वप्राप्तिरुक्ता । पूर्वं चाष्टमाऽध्याये 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ती' त्यारभ्य 'स याति परमां गति' मित्यन्तमक्षरोपासकानां परमगतिरुक्ता एतदुभयोस्तारतम्यजिज्ञासुरर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयति ॥ एवमिति ॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वसंगपरित्यागेन अनन्यभक्ता ये त्वां प्रकटम् आनन्दरूपं पर्युपासते ध्यायन्ति तेषाम् उभयेषां मध्ये के योगवित्तमाः ? अतिशयितत्वत्संयोगविदः श्रेष्ठा इत्यर्थः । तान् कृपया आज्ञापयेतिभावः ॥१॥

स्वरूपतारतम्य के लिये अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—

एवं सतत्.....................

इस प्रकार निरन्तर प्रयत्न में लगे हुए जो भक्त आपकी भली-भांति उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करता है, उनमें उत्तम योगवेत्ता कौन है ॥१॥

टीका:—पूर्व अध्याय के अन्त में 'मत्कर्म कृत' इत्यादि से भक्तों की जो भजननिष्ठों की जो अपनी प्राप्ति कही है। अष्टम अध्याय में 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' से आरम्भ कर 'न याति परमां गतिम्' अंश तक अक्षरोपासकों की परमगति कही गई है। इन दोनों के मध्य श्रेष्ठ कौन है, इसे जानने के लिये अर्जुन भगवान् से कहता है।

इस पूर्वोक्त प्रकार से सबका संग त्यागकर अनन्य भक्त प्रकट आनन्द रूप से आपका ध्यान करते हैं। उन दोनों के मध्य योगवित् कौन है। सद्योगवेत्ता श्रेष्ठ है, उन्हें कृपा कर बतलावें ॥१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

तत्र ये प्रकट-पुरुषोत्तमरूपमद्भजनकर्तारस्त उत्तमा इत्याशयेनोत्तरमाह ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ मयीति ॥ मयि प्रकटरूपे सम्यक् निष्कामतया मनः सर्वदैकरूपम् आवेश्य आसमन्तात् सर्वात्मभावेन निवेश्य ये भाग्यवन्तो नित्ययुक्ताः मत्सेवैकतत्पराः परया प्रेमैकलक्षणया श्रद्धया उपेताः युक्तास्ततो मामुपासते सेवन्ते ते युक्ततमा उत्तमाः मे मताः संमता इत्यर्थः ॥२॥

उनमें जो प्रकट पुरुषोत्तम रूप मेरे भजन करने वाले हैं वे उत्तम हैं, इस आशय से उत्तर कहा है—

भगवान् ने कहा **मूलार्थ**—जो परम श्रद्धा के साथ मुझमें मन लगाकर युक्त हुए मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे योगियों में श्रेष्ठ मान्य हैं।

टीकार्थ—प्रकट् मुझमें निष्काम होकर मन को एक रूप से लगाते हैं, सर्वात्म भाव से मेरा आश्रय लेते हैं, मेरी सेवा में तत्पर रहते हैं, प्रेमैकलक्षणा वाली श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे उत्तम हैं ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

एवं स्वभक्तानामुत्तमत्वमुक्त्वा अक्षरोपासकानां स्वरूपमाह ॥ येत्वक्षरमिति ॥ द्वयेन । ये तु, तुशब्देन स्वाभिमतत्वं निराकृतम् ये अनिर्देश्यं शब्दाऽविवेच्यम् अव्यक्तम् अप्रकटरूपं सर्वत्रगं ध्यानादिदशायामपि हृदयेऽस्थिरस्वभावम् । अतएव अचिन्त्यं चिन्तनाऽयोग्यं रूपाद्यभावादस्थिरत्वाच्च, कूटस्थं प्रपञ्चाधिष्ठितम्, अचलं मच्चरणात्मकम् अतएव ध्रुवं नित्यम् एतादृशम् अक्षरम्, इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य वशीकृत्य सर्वत्र मयि देवादिषु लौकि-

केषु सुखदुःखेषु वा समबुद्धयः सर्वभूतहिते रताः सन्तो ये पर्युपासते ध्यायन्ति ते मामेव प्राप्नुवन्ति । एवकारेणाक्षरसंबन्धव्यवहिताः प्राप्नुवन्तीति भावः, स्वयुक्तमत्वाऽभावश्च ज्ञापितः ।।३-४।।

मूलार्थ—जो इन्द्रिय समूह को भली-भाँति रोककर, सर्वत्र समबुद्धि होकर तथा सम्पूर्णभूतों के हितों में रत होकर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और नित्य (आत्मा) की उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ—इस प्रकार अपने भक्तों की उत्तमता बतलाकर अक्षरोपासकों का स्वरूप बतलाते हैं । 'तु' शब्द से अपना अभिमत भाव निराकृत किया है, जो शब्द द्वारा विवेच्य नहीं है, अप्रकटरूप तथा ध्यानादि की दशा में भी हृदय में अस्थिर स्वभाव वाला है, अतएव चिन्तन के योग्य नहीं है, क्योंकि चिन्तन रूप का किया जाता है, वह रूपरहित है, अस्थिर भी है, प्रपञ्च का अधिष्ठान है, मेरा चरणरूप है, अतः नित्य है, ऐसे अक्षर को इन्द्रियग्राम को वश में करके सर्वत्र मुझमें देवादिकों में लौकिकों में अथवा सुख-दुःख में समबुद्धि होकर समस्त प्राणियों के हित में रत रहते हुए ध्यान करते हैं, वे मुझे प्राप्त करते हैं । यहाँ 'एव' शब्द से अक्षर सम्बन्ध से भिन्न मुझे प्राप्त करते हैं, यह भाव है । इससे स्वयं का युक्ततमत्व भी बतलाया है ।।३-४।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ताऽऽसक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

किञ्च मदभिमताऽभावात्परंपराप्राप्तावपि तेषां क्लेशः, अप्रकटरूपाऽऽसक्तचित्तानां स्वार्थप्रकटितसर्वेन्द्रियवैकल्यात् क्लेशः अधिकतरो भवति आसक्तचित्तत्वाद्दर्शनाद्यभिलाषे सति तदभावादाधिक्यं[1] भवति साधनदशायामपि । अत एवाधिकतरत्वमुक्तम् । फलमपि दुःखेन प्राप्यत इत्याह । अव्यक्तेति । देहवद्भिः देहात्मसेवमानवद्भिः[2] अव्यक्ता गतिः अव्यक्तनिष्ठा गतिः दुःखं दुःखेन अवाप्यते प्राप्यते । हीति युक्तत्वाय । भगवत्सेवैकयोग्यदेहस्य व्यर्थगमनेन सा गतिर्दुःखेनैव प्राप्यते । प्राप्त्यनन्तरमप्यलौकिकदेहाद्यभावादव्यक्ततया प्रवेशे तदात्मकांशस्य पूर्वानुभूतलौकिकेन्द्रियरसस्मरणेन जले निमग्नस्य जलपानवद्दुःखं प्राप्यत इतिभावः ।।५।।

---

[1] क्लेशाऽऽधिक्यम् ।

[2] देहात्मज्ञानवद्भिरिति प्रतिभाति ।

मूलार्थ—इस अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों को क्लेश अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक मनोवृत्ति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है ।

टीकार्थ—और मेरे अभिप्राय न जानने से परम्परा प्राप्त होने पर भी उनको क्लेश अधिक होता है, अप्रकट रूप आसक्तचित्तों को सेवा के लिए प्रकटित सर्वेन्द्रिय वैकल्य से क्लेशाधिक्य होता है । आसक्तचित्त होने के कारण दर्शन आदि की इच्छा होती है, जब दर्शन आदि नहीं होते तब अधिक क्लेश होना स्वाभाविक ही है । साधन दशा में भी क्लेशाधिक्य है, इसीलिये अधिकतर कहा है । फल भी दुःख से प्राप्त होता है, अतः कहा है, देह को आत्मा मानकर जो सेवा करते हैं, उन्हें अव्यक्त निष्ठागति दुःख से प्राप्त होती है । यह ठीक ही है । क्योंकि भगवत्सेवा योग्य देह व्यर्थ जाती है, अतः वह गति दुःख से ही मिलती है । यदि प्राप्त हो भी जाय तब भी देहादि लौकिक होते हैं, अव्यक्तरूप से प्रविष्ट होने पर तदात्मक अंशपूर्व अनुभूत लौकिक इन्द्रिय रस का स्मरण करता है, तो जल में डूबा जैसे जलपान का दुःख प्राप्त करता है, ऐसे ही वह भी प्राप्त करता है ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।६।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ।।७।।

अक्षरोपासकानां साक्षात्कारेऽपि क्लेशो मद्भक्तानां तु मत्स्वरूपध्यानेन मत्प्रतिमादिसेवतामप्यहमुद्धारं करोमीत्याह ।। ये त्विति । द्वाभ्याम् ।। ये तु सर्वाणि लौकिकवैदिकादीनि मयि मन्निमित्तं संन्यस्य त्यागं कृत्वा मत्पराः अहमेव परः उत्कृष्टः प्राप्यो येषां तादृशाः सन्तोऽनन्येनैव योगेन, नैव अन्यो भजनीयो यस्मिंस्तादृशेन भक्तियोगेन मां ध्यायन्तः मद्ध्यानं कुर्वन्त उपासते सेवन्ते, मूर्त्यादिष्विति शेषः हे पार्थ मद्भक्त ! मयि आत्मत्वात् सर्वभावेनाऽऽवेशितं चेतो येषां तेषां मृत्युसंसारसागरात् वारं वारं मरणधर्मयुक्तशरीरप्रापकरूपात् अलौकिकभजनोपयिकस्वरूपदानेन उद्धर्ता, न चिरात् शीघ्रमेवाऽहं भवामि ध्याने मूर्तौ वा प्रकटो भवामीत्यर्थः ।।६-७।।

मूलार्थ—हे अर्जुन ! जो समस्त कर्मों को मुझमें अर्पित कर देते हैं, मेरे परायण होकर अनन्ययोग से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं। मुझमें चित्त लगाने वालों को मैं मृत्युरूप समुद्र से भली-भांति शीघ्र उद्धार कर देता हूं।

टीकार्थ—अक्षरोपासक साक्षात्कार कर लें तब भी उन्हें क्लेश होता है। जो मेरे भक्त हैं, मेरे स्वरूप का ध्यान करते हैं, मेरी प्रतिमा की पूजा करते हैं, उनका मैं उद्धार करता हूं। अतः कहा है—जो सम्पूर्ण लौकिक-वैदिक कर्म मेरे लिये त्याग देते हैं, मैं ही उनकी दृष्टि में उत्कृष्ट हूं, ऐसा मानते हैं। अन्य कोई भजन योग्य नहीं, इस प्रकार के भक्तियोग से मेरा ध्यान करते हैं, उपासना करते हैं, मूर्ति की सेवा करते हैं, हे पार्थ ! जिनका सर्वतोभावेन चित्त मुझमें ही लगता है, उन्हें मृत्यु संसार सागर से बार-बार मरण धर्मयुक्त शरीर प्रापकरूप से अलौकिक भजन के उपयुक्त स्वरूप दान से उद्धार करता हूं। विलम्ब नहीं लगाता, ध्यान में मूर्ति में प्रकट हो जाता हूं ॥६-७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

यतो ध्यानादिभिः सेवतामप्युत्तमफलप्राप्तिर्भवति तत्र साक्षान्मद्भजनकर्तॄणां किं वाच्यमतस्त्वं मत्परो भवेत्याह ॥ मयीति ॥ मय्येव प्रकटरूप एव मनः संकल्पविकल्पात्मकम् आधत्स्व आसमन्तात् स्थैर्येण सर्वत आकृष्य स्थापय। बुद्धिं व्यवसायात्मिकां मय्येव निवेशय। अत ऊर्ध्वं बुद्धिप्रवेशानन्तरं मय्येव पुरुषोत्तमे निवसिष्यसि नितरां सेवाविनियोग्यतया निकट एव स्थास्यसि न संशयः अत्र न संदेहः। संशयं मा कुर्या इत्यर्थः ॥८॥

मूलार्थ—मुझमें ही मन लगा, मुझमें ही बुद्धि लगा। इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा। इसमें संशय नहीं है।

टीकार्थ—जो मेरा ध्यान करते हैं, उन्हें भी उत्तमफल की प्राप्ति होती है, उनमें भी जो साक्षात् मेरा भजन करते हैं, उनका तो कहना ही क्या है, अतः तुम मेरे आधीन हो। प्रकटरूप मुझमें ही संकल्प-विकल्पात्मक दोनों प्रकार के मन को लगा, चारों ओर से स्थिरतापूर्वक खींचकर मुझमें लगा। व्यवसाय स्वरूप वाली बुद्धि को भी मुझमें लगा। बुद्धि लगा देने के पश्चात् मुझ पुरुषोत्तम में ही रहेगा। सेवा के

योग्य होकर निकट में ही रहेगा, इसमें संशय नहीं है। अर्थात् इस कथन में संशय न करना ॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय ॥९॥

ननु मनश्चञ्चलत्वात् कथं त्वयि स्थिरं स्यादत आह ॥ अथेति ॥ धनञ्जयेतिसावधानार्थे संबोधनम्। अथचेत् मयि स्थिरं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि समर्थो न भवसि तदा अभ्यासयोगेन मच्छ्रवणानुस्मरणादिरूपेण माम् आप्तुं प्राप्तुम् इच्छ यतस्व विचार्य प्रयत्नपरो भवेत्यर्थः ॥९॥

मूलार्थ—यदि तू मुझमें चित्त को स्थिरता पूर्वक स्थापना करने में समर्थ नहीं है, तो अर्जुन ! अभ्यास योग से तू मुझे प्राप्त करने की इच्छा कर।

टीकार्थः—मन चञ्चल है, वह आपमें कैसे स्थिर हो सकता है, अतः श्रीकृष्ण ने कहा—यहां धनञ्जय पद सावधान करने के लिये सम्बोधित है। यदि मुझमें स्थिर चित्त लगाने में समर्थ न हो तो, मेरे श्रवण-स्मरण आदि अभ्यास से प्राप्त करने की इच्छा कर अथवा विचार कर प्रयत्न करने में लग ॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

एवं चित्तधारणार्थमभ्यासः साधनत्वेनोक्तस्तत्साधनमप्याह ॥ अभ्यास इति ॥ अभ्यासे निरन्तराऽनुस्मरणे अपिचेत् असमर्थोऽसि तदा मत्कर्मपरमः मत्प्रीतिहेतुपूजादिरूपाणि यानि तदनुष्ठानमेव परममुत्कृष्टं यस्य तादृशो भव। एवं मदर्थं मत्प्रीत्यर्थं नतु फलकामनया कर्माण्यपि कुर्वन् सिद्धिम् अभ्याससिद्धिं प्राप्स्यसि ॥१०॥

मूलार्थ—यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ है तो मेरे कार्यों के परायण हो। मेरे अर्थ कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि को प्राप्त हो जायगा।

टीकार्थ—इस प्रकार चित्त धारण के लिये साधन अभ्यास कहा है, अभ्यास का भी साधन कहते हैं—यदि निरन्तर अनुस्मरण में भी सामर्थ्य न हो तो मेरी प्रीति

के लिये मन्दिर आदि निर्माण पूजा में मन लगने वाला धन। इस प्रकार मेरी प्रीति को फल कामना को छोड़कर कर्म करता हुआ अवश्य सिद्धि प्राप्त करोगे ।।१०।।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यताऽऽत्मवान् ।।११।।

एतत्प्राप्त्यर्थमतिसुगमोपायमाह ।। अथैतदिति ।। अथचेत् एतदपि मदर्थकं कर्तुम् अशक्तोऽसि स्वरूपाऽज्ञानात् तदा मद्योगं मम योगः संयोगो यस्मिन् यस्य वा तादृशं भक्तम् आश्रितः सन् यताऽऽत्मवान् तदेकपरचित्तो भूत्वा सर्वकर्मफलत्यागं संध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनां स्वर्गादिरूपफलानां त्यागं कुरु चिन्तनं त्यजेदित्यर्थः तत्फलानभिलाषे मदाज्ञया करणात् कर्मभिश्चित्तशुद्धया मद्भक्तोपदिष्टं ज्ञानं स्थिरीभविष्यति तेन मत्कर्मसिद्धिर्भविष्यतीतिभावः ।।११।।

मूलार्थ—यदि मेरे योग का आश्रय लेकर तू यह (मदर्थ कर्म) भी न कर सके तो मन को संयम में रखकर समस्त कर्मों के फल का त्याग कर।

टीकार्थ—इसकी प्राप्ति के लिये अत्यन्त सुगम उपाय बतलाते हैं। यदि मेरे लिये कर्म भी करने में स्वरूप अज्ञान के कारण समर्थ न हो तो मेरा संयोग जिसमें है, अथवा मुझसे संयोग जिसका है, ऐसे भक्त का आश्रय कर उसी में चित्त लगाकर समस्त कर्मों का सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्रादि स्वर्गादिरूप फलों का त्याग कर चिन्ता छोड़। उसके फल की अभिलाषा न करने से मेरी आज्ञा से कर्म करने से कर्मों के चित्त की शुद्धि हो जायगी, मेरे भक्त के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान स्थिर होगा, उससे मेरे कर्म की सिद्धि हो जायगी, यह भाव है ।।११।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

एवमुक्तानामुत्तरोत्तरकर्त्तव्यानां स्वरूपमाह ।। श्रेय इति ।। अभ्यासात् केवलचित्ताकर्षणेनाऽनुस्मरणरूपात् ज्ञानं श्रेयः श्रेष्ठमित्यर्थः। अतो ज्ञानयुक्तोऽभ्यास उत्तम इतिभावः। ज्ञानात् केवलात् ध्यानं मत्स्वरूपाऽनुचिन्तनात्मकं विशिष्टं भवतीत्यर्थः। तेन ज्ञानाऽभ्यासयुक्तं ध्यानमुत्तममितिभावः। ध्यानात् केवलात् कर्मफलत्याग उत्तमः। तेन ज्ञानाभ्यासध्यानसहितमदर्थकमत्कर्मकरणमुत्तममित्यर्थः। यत एवमनन्ताहंत्यागादनन्तरं शीघ्रमेव शान्तिः मद्भक्तिस्थितिरूपा भवेदितिविशेषः ।।१२।।

मूलार्थ—अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशेष है, ध्यान से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग के अनन्तर शान्ति होती है।

टीकार्थ—इस प्रकार कहे हुए कर्मों में उत्तरोत्तर कर्त्तव्यों का स्वरूप कहते हैं। अभ्यास से अर्थात् केवलचित्त आकर्षण रूप अनुस्मरण से ज्ञान श्रेष्ठ है। अतः ज्ञानयुक्त अभ्यास उत्तम है, यह भाव है। केवल ज्ञान से मेरे स्वरूप के अनुचिन्तन से युक्त ध्यान विशिष्ट होता है। अतः ज्ञान और अभ्यास से युक्त ध्यान उत्तम है यह भाव है। केवल ध्यान से कर्मफलत्याग उत्तम है। क्योंकि इस प्रकार के त्याग के पश्चात् शीघ्र ही मेरी भक्ति स्थितिरूप शान्ति होगी ।।१२।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणएव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१३।।

तस्य स्वरूपमाह ।। अद्वेष्टेति ।। सर्वभूतानां प्राणिमात्राणां मत्क्रीडात्मकत्वात् अद्वेष्टा आधिक्यादिदर्शने द्वेषरहितः, मैत्रः भक्तेषु मित्रतया वर्त्तमानः, करुणः भक्तिरहितेषु संसारदुःखनिश्चयात् करुणः उपदेशादिदानार्थं करुणावान्। एवकारेण न कदाचित् कर्कशस्तिष्ठेदितिज्ञापितम्। निर्ममः उपदेशदानानन्तरं तेषु सर्वत्र च ममत्वरहितः, निरहंकारः स्वस्योत्तमत्वज्ञानेनाऽहंकाररहितः, समदुःखसुखः समे दुःखसुखे वियोगसंयोगात्मके यस्य क्षमी क्षमावान् दुष्टकृतावमानादिसहनशीलः ।।१३।।

मूलार्थ—समस्त प्राणियों से द्वेष न करने वाला, मित्रता और दया भाव वाला, ममता और अहङ्कार से रहित, सुख दुःख में समान, क्षमाशील, सन्तुष्ट, नित्य योगी, मन की वृत्तियों को वश में रखने वाला, दृढ़ निश्चयी और मुझमें अर्पण किये हुए मनबुद्धि वाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

टीकार्थ—समस्त भूत मेरे ही खेल में रचे गये हैं, अतः आधिक्य देखकर उनसे द्वेष न करने वाला। भक्तों में मित्रता भाव से व्यवहार करने वाला। भक्ति रहित संसार दुःख में पड़ा है, यह जानकर उपदेश देने हेतु करुण स्वभाव वाला।

इनमें कभी कठोर स्वभाव न करे। उपदेश दान के पश्चात् उनमें ममता रहित होकर व्यवहार करे, मैं उत्तम हूँ, यह अहङ्कार भी न करे, वियोगरूप दुःख में संयोगरूप सुख में समान रहने वाला, दुष्टकृत अपमान को सहन करने वाला ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यताऽऽत्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

किञ्च ॥ संतुष्ट इति । सततं संतुष्टः निरन्तरं हृदयस्थितमत्स्वरूपेण आनन्दयुक्तः योगी मच्चिन्तनशीलः यताऽऽत्मा वशीकृतस्वभावः, दृढनिश्चयः दृढः कामाद्यनुपहतो मत्परीक्षितदुःखादिष्वचलो मयि सर्वकरणसमर्थत्वेन निश्चयो यस्य, मयि अर्पिते मनोबुद्धी येन य एतादृशः स मद्भक्तः मे प्रियः मदिङ्गितकरणादितिभावः ॥१४॥

हृदय में स्थित मेरे स्वरूप के कारण सर्वदा आनन्दयुक्त, मेरा चिन्तन करने वाला, स्वभाव जीतने वाला, कामादि के द्वारा अपराजित, मेरे द्वारा परीक्षा लिये गये दुःख आदि में जो विचलित न हो, सब कुछ करने में समर्थ मुझमें निश्चय वाला, मुझमें मन और बुद्धि को लगाने वाला भक्त मुझे प्रिय है, क्योंकि वह मेरे संकेत से काम करता है, यह भाव है ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षाऽमर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

किञ्च ॥ यस्मादिति ॥ यस्मात् सकाशाल्लोकः न उद्विजते ध्रुवादिवत् सकामभजनादिना लोकः क्लेशं नाप्नोति च पुनः लोकात् स्वस्योत्सादनार्थं तपआदियत्नवतो यो न उद्विजते भयं न प्राप्नोतीत्यर्थः । च पुनः हर्षाऽमर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः हर्षः स्वेष्टाऽऽप्त्या तद्राहित्येन सर्वत्र भगवदात्मकत्वेनेतरास्फूर्त्या सर्वदैव हर्षात्मक एवेत्यर्थः । अमर्षः परोत्कर्षासहिष्णुता तद्राहित्येन भगवल्लीलाऽऽत्मकज्ञानवानित्यर्थः । भयं त्रासस्तदभावेन भगवद्रक्षणसामर्थ्यज्ञानवानित्यर्थः । उद्वेगश्चित्तक्षोभस्तेन सेवादिसमये चित्तचाञ्चल्यरहित इत्यर्थः एतादृशो यः स मे प्रियः ॥१५॥

मूलार्थ—जिससे संसार उद्वेग नहीं करता जो संसार से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय तथा उद्वेग से मुक्त है, वह भी मेरा प्यारा है ॥१५॥

टीकार्थ—जिससे समस्त संसार सकाम भजन करने वाले ध्रुव आदि की तरह क्लेश को प्राप्त नहीं करता, और जो लोक से—अपने को विच्छिन्न करने वाले तप आदि यत्न करने वाले से जो भयभीत नहीं होता, और हर्ष, अर्थात् अभीष्ट प्राप्ति न होने पर सर्वत्र भगवान् हैं, अन्य की स्फूर्ति न होकर जो सर्वदा हर्षात्मक रहे। अमर्ष का अर्थ है, पर के उत्कर्ष को सहन न करना, इसके न रहने पर भगवल्लीलात्मक ज्ञान वाला। भय अर्थात् त्रास इसके अभाव में भगवान् सबकी रक्षा करते हैं, इस ज्ञान से युक्त। उद्वेग—चित्तक्षोभ से सेवा आदि के समय चित्त-चञ्चलता रहित जो हो, वह मेरा प्रिय है ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

किञ्च । अनपेक्षः सेवादौ स्वमनोऽतिरिक्तापेक्षारहितः समर्थ इतियावत्, शुचिः मत्स्मरणवान्, दक्षः भजनस्वरूपज्ञानवान्, उदासीनः लोकेषु, गतव्यथः मानसिकक्लेशरहितः सर्वारम्भपरित्यागी दृष्टश्रुतफलककर्मानुद्यमानस्वभावः एतादृशो[1] मद्भक्तः मद्भजनकर्त्ता स मे प्रियः ॥१६॥

मूलार्थ—अपेक्षा से रहित, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित, सारे आरम्भों का त्याग करने वाला जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्रिय है।

टीकार्थ—सेवा आदि में अपने मन से अतिरिक्त अपेक्षा रहित अर्थात् समर्थ शुचि=मेरे स्मरण को करने वाला। भजन स्वरूप को जानने वाला, लोक में उदासीन मानसिक क्लेश रहित, दृष्ट और श्रुतफलक कर्मों में उद्यम न करने वाला, इस प्रकार मेरा भजन करने वाला ही मेरा प्रिय है ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाऽशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

किञ्च ॥ यो नेति ॥ यः लौकिकप्रियाऽऽप्त्या न हृष्यति । तथैवाऽप्रियादिना न द्वेष्टि । तथा च सेवार्थवस्तुनाशे[2] न शोचति न तदाकांक्षति । शुभा-

---

[1] न कर्मफलवशीक्रियमाण इत्यर्थः । [2] अत्र वस्तुशब्देन सेवातिरिक्तं कार्यान्तरमुच्यते । तथा च सततं भगवत्सेवाव्यापृतमनस्कतया वस्त्वन्तरहानावपि न शोचतीत्यर्थः ।

शुभे स्वर्गनरकादि रूपे त्यजति । सर्वत्र भगवदिच्छां ज्ञात्वा लीलात्वेन व्यवहरतीत्यर्थः । एतादृशो यो भक्तिमान् भक्तियुक्तः स मे प्रियः ॥१७॥

मूलार्थ—जो हर्ष, द्वेष, शोक, आकांक्षा नहीं करता, और शुभ-अशुभ दोनों का त्यागी है, जो ऐसा भक्त है, वह मुझे प्रिय है ।

टीकार्थ—जो लौकिक प्रिय वस्तुओं को प्राप्तकर प्रसन्न नहीं होता । अप्रिय से जो द्वेष नहीं करता । सेवाहेतु वस्तु के नाश होने पर, न शोक करता है न उसकी आकांक्षा करता है, स्वर्ग नरकादि रूप शुभाशुभ भी त्याग देता है । सर्वत्र भगवान् की इच्छा जानकर उनकी लीला जानकर व्यवहार करता है, ऐसा जो भक्तिमान् भक्त है, वह मुझे प्रिय है ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानाऽपमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

किञ्च ॥ सम इति ॥ शत्रौ द्वेषकर्तरि, मित्रे अनुरागवति समः स्वतो द्वेषानुरागरहित इत्यर्थः । तथा मानाऽपमानयोरपि समः शीतोष्णयोर्दैहिकयोः सुखदुःखयोः पुत्रजन्ममरणादिरूपयोः समः संगवर्जितः लौकिकाऽऽसक्तिरहितः ॥१८॥

तुल्ये निन्दास्तुति यस्य निन्दितो न व्यथित स्तुतो न हृष्यति । स्वयं च न कंचन निन्दति नच स्तौति । मौनी वशवाक् येनकेनचिद्भगवदिच्छाप्राप्तेन संतुष्टः, अनिकेतः गृहाद्यासक्तिरहितः, स्थिरमतिः मयीत्यर्थः । एतादृशो यो भक्तिमान् भक्तियुक्तो नरः स मे प्रियः प्रियो भवतीत्यर्थः ॥१९॥

मूलार्थ—शत्रु-मित्र और मान-अपमान में एक समान, शीत-उष्ण तथा सुख-दुःख में एक समान, आसक्ति से रहित निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मौनी, जिस किसी से भी सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिर मतिवाला जो भक्तिमान् है, वह मनुष्य मेरा प्यारा है ॥१८॥

टीकार्थ—जो द्वेष करने वाले में, अनुराग करने वाले मित्र में, स्वतः द्वेष अनुराग रहित होता है, मान में, अपमान में, शीत-उष्ण में, पुत्रजन्म, पुत्रमरण रूप सुख-दुःख में आसक्ति रहित हो, निन्दा स्तुति जिसे तुल्य हो, निन्दा से दुःखी न हो, स्तुति से हृष्ट न हो, स्वयं न किसी की निन्दा करे न स्तुति । वाणी का संयम करने वाला, भगवान् की इच्छा से जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहने वाला, गृह आदि की आसक्ति से रहित मुझमें स्थिरमति वाला जो भक्तियुक्त नर है, वह मेरा प्रिय होता है ॥१९॥

ये तु धर्म्याऽमृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

इतिश्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम
द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

उक्तभक्तिरूपमुपसंहरति ॥ ये त्विति ॥ य इति सामान्योक्त्या नाश्रवर्णादिनियमः किन्तु ये केचन भाग्यवन्त इदं पुरत उक्तं धर्म्याऽमृतम् अक्षयं मत्प्रसादाऽऽत्मकफलरूपं यथोक्तं श्रद्धानाः मदुक्तं सत्यमिति ज्ञानवन्तो मत्परमाः मदेकनिष्ठाः सन्तः पर्युपासते मां सेवन्ते । ते भक्ता मे अतीव स्वात्मनः प्रिया भवन्तीत्यर्थः । 'नाऽहमात्मानमाशासे' इतिवत्[1] ॥२०॥

एवमर्जुनमासिच्य भक्तियोगाऽमृतोक्तिभिः ॥ सर्वस्वमयमासिच्य लोकोद्धारपरो हरिः ॥१॥

इतिश्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

मूलार्थ—परन्तु जो पहले कहे हुए इस धर्म्यामृत का अनुष्ठान करते हैं, वे श्रद्धायुक्त मेरे परायण भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ।

---

१. टि. प्रियत्वप्रकरणे भगवतीयं पूर्वानिसं प्रयुक्तम् ।

टीकार्थ- उक्त भक्तिरूप का उपसंहार करते हैं। वर्णादि का नियम नहीं है, जो कोई भाग्यशाली इस धर्म्य अमृत को मेरे प्रश्नात्मक फलरूप को श्रद्धापूर्वक धारण करते हैं। मेरा कथन सत्य है, इस ज्ञान को जानते हैं, मेरे में दृढ़ हैं, मेरी सेवा करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। 'नाहमात्मानमाशासे' इत्यादि की तरह यह वाक्यांश भगवान् का है जो राजा प्रियव्रत के उपाख्यान में दुर्वासा से कहा गया है।

कारिकार्थः—इस प्रकार भक्तियोगरूपी अमृत उक्ति से अर्जुन को तृप्त किया गया, और समस्त संशयों को लोक उपकारक हरि ने दूर किया।।१॥

इति अमृततरङ्गिण्यां हिन्दी टीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अध्याय १३

॥ अर्जुन उवाच ॥

प्रकृति पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥१॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

ये यथोक्तप्रकारेण मां भजन्ति विचक्षणाः ।
अनन्यमनसस्ते मे प्रियास्तानुद्धराम्यहम् ॥१॥
इत्युक्तिं समुपाकर्ण्य तज्जिज्ञासुर्धुनञ्जयः ।
प्रभुं विज्ञापयामास प्रेमविह्वलितः सुधीः ॥२॥

अथ प्रपञ्चादिसर्वस्वरूपज्ञानाभावे भक्तिः कथं स्यादिति तज्ज्ञानं पृच्छति ॥ प्रकृतिमिति ॥ प्रकृतिं पूर्वोक्तां स्वशक्तिरूपां, पुरुषं च स्वांशं जीवं, क्षेत्रं सर्वोत्पत्तिस्थानं, क्षेत्रज्ञं तत्स्वरूपज्ञं, ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं, ज्ञेयं तेन ज्ञानेन प्राप्यं सर्वं हे केशव ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षद ! अहं भवत्यर्थं वेदितुमिच्छामि ॥१॥

कारिकार्थः—जो विज्ञजन केवल मुझमें मन को लगाकर कहे हुए प्रकार से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे प्रिय हैं, मैं उनका उद्धार अवश्य करता हूं ॥१॥

प्रभु की इस उक्ति को सुनकर उस तत्त्व को जानने की इच्छा वाला अर्जुन प्रेमपूरित होकर पूछने लगा ॥२॥

प्रपञ्च आदि सर्वस्वरूप ज्ञान के न होने पर भक्ति किस प्रकार होती है, उस ज्ञान को पूछता है। हे केशव ! स्वशक्तिरूपा प्रकृति को, स्वांश जीव को, सबके उत्पत्ति स्थान क्षेत्र को, उसके स्वरूप जानने वाले क्षेत्रज्ञ को, ज्ञान के स्वरूप को तथा ज्ञान के द्वारा प्राप्य ज्ञेय को मैं जानना चाहता हूं। केशव का अर्थ है, ब्रह्मा-शिव को मोक्ष देने वाला। अर्जुन ने यह प्रश्न भक्ति के लिये जानना चाहा है ॥१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥२॥

भगवान् कृपयाऽओत्तरमाह ॥ इदमिति । हे कौन्तेय कृपापात्र ! इदं शरीरं दृश्यमानं मरणादिधर्मयुक्तं क्षेत्रं ज्ञानादिप्ररोहस्थानं लीलार्थं स्वांशजीवोत्पत्तिस्थानं तद्विदा अभिधीयते कथ्यत इत्यर्थः । एतत् याथातथ्येन यो वेत्ति तं तद्विदः क्षेत्रविदा ज्ञानिनः क्षेत्रज्ञं प्राहुः । अन्योक्तिकथनेन तथा न भवतीतिज्ञापितम् ॥२॥

हे कृपापात्र कौन्तेय ! यह मरणादि धर्म वाला शरीर क्षेत्र कहलाता है, क्योंकि ज्ञान आदि की उत्पत्ति इसी में होती है । लीला के लिये अपने अंश जीव की उत्पत्ति का स्थान विज्ञों द्वारा कहा जाता है । इस बात को जो यथार्थरूप में जानता है, ज्ञानी लोग उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं । अन्योक्ति कथन से वैसा नहीं होता, यह ज्ञापित किया है ॥२॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥३॥

अथाऽर्जुनज्ञानार्थं स्वमते यथा तत्स्वरूपमस्ति तथाऽऽह ॥ क्षेत्रज्ञमिति ॥ क्षेत्रज्ञं जीवम् अपिशब्देनाणुरूपमपि मां मदंशं रसानुभवार्थं सर्वक्षेत्रेषु चकारेण मद्रूपेषु स्थितं विद्धि जानीहि । भारतेतिसंबोधनं विश्वासार्थम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्मदंशत्वेन लीलार्थत्वेन यज्ज्ञानं तत् मम मतं संमतमित्यर्थः । एतद्विपरीतं देहादीनां कर्मादिजन्यत्वं तज्ज्ञानवत्त्वं जीवस्य क्षेत्रज्ञत्वम् असम्बद्धमित्यर्थः स्वमतोक्त्या ज्ञापितः ॥३॥

अर्जुन के ज्ञान के लिये अपने मत में उसका जो स्वरूप है, उसे कहते हैं—

अणुरूप क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव को रस अनुभव के लिये मेरे ही रूपों में स्थित समझो । भारत सम्बोधन विश्वास प्रदान के लिये है । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का मेरे अंशरूप से लीला के लिये जो ज्ञान है, वह मेरे सम्मत है । इसके विपरीत देहादिका कर्मादि से उत्पन्न होना, ज्ञानवान् होना जीव का क्षेत्रज्ञत्व असम्बद्ध है, यह स्वमत उक्ति से स्पष्ट किया है ॥३॥

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥४॥

एवं प्रतिज्ञाय क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपं सभेदकं कथयामि तच्छृणुष्वेत्याह ॥ तत् क्षेत्रमिति ॥ तन्मदुक्तं क्षेत्रं यत् मत्सत्तात्मकं जडादिरूपमपि यादृक् यादृशं मल्लीलेच्छात्मकम् । यद्विकारि विचित्रक्रीडेच्छया नानाविकारयुतम् । यतश्च मदंशात्मकमत्क्रीडार्थप्रकृतिपुरुषसंयोगजम् । तत्स्थावरजङ्गमपक्ष्यादिविचित्ररूपम् । स च क्षेत्रज्ञः स्वरूपतोमदंशरूपो यत्प्रभावः सूक्ष्मोऽपि व्यापकादिसेवनयोग्यश्चाचिन्त्यप्रभाववांस्तदन्यैर्याथातथ्यस्वरूपाऽज्ञानाद्बहुविधमुक्तं तत्सर्वं समासेन संक्षेपतो मे मत्तः शृणु ॥४॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को समझाकर अब उसे भेद सहित कहता हूँ, उसे सुनो । मेरे द्वारा कहा गया क्षेत्र जो मेरी सत्तामात्र है, और जडादिरूप भी जितना जिस प्रकार का है, मेरी लीला इच्छामात्र है, और जो विचित्र क्रीडा इच्छा से नाना विकार युक्त है, और जो मेरा अंश, मेरी क्रीडा हेतु प्रकृति पुरुष संयोग से उत्पन्न है, वह स्थावर (अचल) जङ्गम (चल) तथा विविध पक्षी आदिरूप वाला है । वह क्षेत्रज्ञ स्वरूपतः मेरे अंशरूप प्रभाव से युक्त है, सूक्ष्म भी व्यापक है, सेवन योग्य है, अचिन्त्य प्रभाव वाला है, किन्तु अन्यों ने यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण उसके रूप को बहुत प्रकार का कह दिया है, उसे संक्षेप में मुझसे सुनो ॥४॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥५॥

बहुधान्योक्तं भ्रमाऽभावाय प्रपञ्चयति ॥ ऋषिभिरिति । ऋषिभिः स्वानुभवोत्पन्नफलनिरूपणेन बहुधा बहुप्रकारेण गीतम् । किञ्च । छन्दोभिर्वेदैर्विविधैः कर्मज्ञानोपासनकाण्डादिभिः पृथक् भिन्नतया अधिकारपरत्वेन गीतम् । तथैव ब्रह्मसूत्रपदैश्च ब्रह्म सूच्यते सूच्यते एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि जन्माद्यस्य यत इत्यादीनि तथाच ब्रह्म प्रपद्यते गम्यते एभिरिति पदानि

'एको देवो बहुधा निविष्ट' इत्यादीनि तैर्बहुधा श्रुत्यनुसारेणैव गीतम् कीदृशैस्तैः हेतुमद्भिः सहेतुकैः 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येव तं साधु कर्म कारयतीत्यादिभिः विनिश्चितैः निःसंदिग्धैः स्वानुभवप्रतिपादकैरित्यर्थः ।। एवं विस्तरेणैतैरुक्तं दुर्बोधं याथातथ्येन तत् समासेन मे मत्तः उक्तं शृणु कथयामीत्यर्थः ।।४।।

अन्योक्त को भ्रम अभाव के लिये व्याख्यात किया है—

ऋषियों ने अपने अनुभव जन्यफल निरूपण से अनेक प्रकार से इसे गाया है। वेदों ने कर्म-ज्ञान उपासना काण्ड आदि द्वारा भिन्न होने से अधिक तत्परता से गाया है। ब्रह्मसूत्र पदों से ब्रह्म सूचित है, जैसे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्र हैं, क्योंकि इनसे ब्रह्म का सूचन है। ब्रह्म जिससे प्राप्त किया जाय, उसे पदशब्द कहा गया है। एक देव अनेक प्रकार से व्याप्त है, इत्यादि। इनसे बहु श्रुतियों के अनुसार गाया गया है। यह सहेतुक है। आनन्द के अभाव में हृदयमान का कोई महत्त्व ही नहीं। यही अच्छे कर्म कराने वाला है इत्यादि सन्देह रहित अपने अनुभव के प्रतिपादकों से। इस प्रकार जो बड़े विस्तार से बात कही गई है, उसे संक्षेप से तुम्हें सुनाता हूँ ।।४।।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।६।।

तत्क्षेत्रस्वरूपमाह द्वयेन ।। महाभूतानीति ।। महाभूतानि पृथिव्यादीनि। अहंकारस्तत्कारणात्मकः बुद्धिर्विज्ञानात्मिका। अव्यक्तं मूलप्रकृतिः। इन्द्रियाणि दश। च पुनः एकं मनः। इन्द्रियगोचरास्तन्मात्रात्मकाः शब्दादयः पञ्च। एवं चतुर्विंशतितत्त्वानिप्रतिपादितानि ।।६।।

क्षेत्र का स्वरूप दो श्लोकों से कहते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश पाँचभूत इनका कारण अहङ्कार इसका कारण विज्ञानात्मिका बुद्धि और बुद्धि का कारण मूल प्रकृति। दस इन्द्रियाँ (५ ज्ञानेन्द्रिय चक्षुजिह्वा, घ्राण, श्रोत्र तथा त्वचा) ५ ज्ञानेन्द्रिय, वाणी, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ) एक मन, शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्धादि ५ तन्मात्रा सब मिलकर २४ तत्त्व कहे जाते हैं ।।६।।

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।७।।

इच्छा अभिलषितार्थरूपा, द्वेषः प्रतीपस्फूर्त्या, सुखं स्वाभिलषितप्राप्त्या, दुःखं स्वाज्ञानकल्पितं, संघातः शरीरं चेतना ज्ञानरूपा मनोवृत्तिः, धृतिः धैर्यम्, इच्छाऽऽदयोऽपि मनोधर्मा अतः सविकारम् इन्द्रियादिविकारसहितं क्षेत्रं सर्वोत्पत्तिस्थानं संक्षेपेण सम्यक्प्रकारेण उदाहृतं लीलार्थं प्रकटितमितिज्ञानार्थं कथितमित्यर्थः ।।७।।

अभिलषित अर्थरूप वाली इच्छा, विरोधरूपी द्वेष, अभीष्ट प्राप्तिरूप सुख स्वअज्ञान कल्पित दुःख, शरीर, चेतना तथा ज्ञानरूपा मनोवृत्ति, धैर्य, इच्छादि मनोधर्म, इन्द्रियादि विकार सहित क्षेत्र सबका उत्पत्ति स्थान यह सब लीला के लिये संक्षेप से कहा है ।।७।।

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।८।।

एवं क्षेत्रस्वरूपमुक्त्वा ससाधनं ज्ञानस्वरूपमाह पञ्चभिः ।। अमानित्वमिति ।। अमानित्वं स्वगुणोत्कर्षवर्णनप्रबोधराहित्यम्। अदंभित्वं लोकदर्शनार्थधर्माद्यनुष्ठानाभावत्वम्। अहिंसा परपीडाराहित्यम्। क्षान्तिः दुष्टाद्यतिक्रमसहनम्। आर्जवम् अकौटिल्यम् आचार्योपासनं गुरुसेवनम्। शौचं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं बाह्यं मृत्तिकाजलादिना आभ्यन्तरं भगवत्स्मरणात्मकम्। स्थैर्यं क्लेशादिष्वपि भगवत्परतया स्थितिः। आत्मविनिग्रहः क्षुधाशीतादिसहनेन शरीरसंयमः ।।८।।

इस प्रकार क्षेत्र का स्वरूप समझाकर साधन सहित अब ज्ञान का स्वरूप ५ श्लोकों से समझाते हैं। अपने गुणों के माहात्म्य श्रवण से मान न करने वाला। लोक में दिखावे मात्र को धर्मादि अनुष्ठान न करने वाला, परपीड़ा से रहित, दुष्टों द्वारा दिये गये दुःख को सहना, कुटिलता से परे रहना, गुरु की सेवा करना, मिट्टी तथा जल आदि से बाह्य शुद्धि करने वाला, भगवान् के स्मरण से अभ्यन्तर शुद्धि

करने वाला, क्लेश आदि विपत्तियों में भी भगवान् के परायण रहना, भूख-प्यास आदि के सहन करने से शरीर पर संयम करने वाला ॥८॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥९॥

इन्द्रियार्थेषु इन्द्रियभोगेषु वैराग्यम् । अनहंकार एव च ! च पुनः । अहंकारराहित्यम् । एवकारेणाऽस्यावश्यकत्वं ज्ञापितम् । जन्मादिषु दुःख-दोषयोरनुदर्शनं विचारः । तथाहि । जन्म-अजन्मनो ब्रह्मांशस्याऽपि योनिमलादिसंबन्धः । मृत्युर्भगवद्विस्मरणं, जरा शक्तिह्रासः, व्याधिः रोगादि-क्लेशः ॥९॥

इन्द्रिय के भोगों में वैराग्य वाला, अहङ्कार रहित एव शब्द से इसे आवश्यक माना गया है, जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्था रोगों में दुःख-दोष का विचारक ॥९॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१०॥

किञ्च ॥ असक्तिरिति ॥ पुत्रदारगृहादिपदार्थेष्वसक्तिः आसक्तिराहित्यम्, अनभिष्वङ्गः तेषु समदुःखसुखतया तन्मयत्वाभावः । इष्टानिष्टोपपत्तिषु इष्टानिष्टप्राप्तिषु नित्यं भगवदिच्छाविचारेण समचित्तत्वम् ॥१०॥

जन्म अर्थात्—ब्रह्म अंश का भी योनि-मल से सम्बन्ध, मृत्यु=अर्थात् भगवान् को विस्मृत करना, जरा=शक्ति क्षय, व्याधि=रोगादि क्लेश इनमें दुःख और दोष का पुनः पुनः विचार करना ॥१०॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥

च पुनः । मयि अनन्ययोगेन लौकिकालौकिकेषु मच्छरणतया अव्यभिचारिणी अन्यत्र सद्बुद्धिराहित्येन भक्तिः, विविक्तदेशसेवित्वं भगवत्परिपन्थि-रहिततद्देशसेवनशीलत्वम्, अरतिर्जनसंसदि जननादिक्लेशयुक्तलौकिकजीव-सभायाम् अरतिः प्रतिष्ठाघनाकांक्षा ॥११॥

पुत्र-पौत्र-पत्नी-माता-पिता आदि में आसक्ति शून्य होना, सुख-दुःख में समभाव रखने से उनमें तन्मय न होना । हर्ष-विषाद में भगवान् की इच्छा के विचार से समचित्त रहना ॥११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१२॥

अध्यात्मज्ञाने आत्मस्वरूपज्ञाने नित्यभावः । तत्त्वज्ञानस्य अर्थात्मिको भगवान् मोक्षो वा तस्य दर्शनम् आलोचनरीत्या विचारः । एतत्पञ्चश्लोकोक्तं ज्ञानमितिप्रोक्तम् । एतद्युक्तो ज्ञानवान् । अतोऽन्यथा यत् विपरीतत्वं मानित्वादिभावयुक्तं तत् अज्ञानं नज्ञानमित्यर्थः । संगाऽनर्हा एते अपि त्याज्याः ॥१२॥

मुझमें लौकिक किंवा अलौकिक योगों में मेरी शरण के कारण अन्यत्र सद्बुद्धि रहित भक्ति करना, भगवान् के मिलने में प्रतिबन्ध न करने वाले देश का सेवन करना, जनन आदि क्लेशयुक्त लौकिक जीव के अध्यात्म ज्ञान में आत्मा के स्वरूप जानने में नित्य भावयुक्त, तत्त्वज्ञान का (अर्थात्मक भगवान् मोक्ष का) दर्शन करना, या विचार करना । इन पाँच श्लोकों का ज्ञान रखने वाला ही सच्चा ज्ञानी है, इससे विपरीत मानी आदि भाव से युक्त अज्ञान वाला अज्ञानी है । ये अनर्ह हैं, अर्थात् संग करने योग्य नहीं हैं । अतः त्याज्य हैं ॥१२॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नाऽसदुच्यते ॥१३॥

एवं ज्ञानस्वरूपमुक्त्वा तेन ज्ञेयस्वरूपमाह । ज्ञेयमित्यादिषड्भिः ॥ स्वगुणरूपैरेवं पूर्वोक्तसाधनैर्यत् ज्ञेयं तत् प्रकर्षेण सर्वाङ्गयुक्तं वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः । तत्कथनप्रयोजनमाह यत् ज्ञात्वा अमृतं मोक्षम् अश्नुते प्राप्नोति । एवं कथनं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपमाह । अनादीति । न विद्यते आदिरुत्पत्तिर्यस्य तादृशं मत्परम् अहमेव परो यस्य मत्स्थानभूतं ब्रह्म बृहत् व्यापकं च । तदेवाह । न सत् सन्नभवति । तद्ध सद्भवतोतिचेदित्या-

शङ्क्याह। तत् असत् न उच्यते सदसदनिश्चयोक्त्याह दुर्ज्ञेयत्वेन ब्रह्मत्वं प्रतिपादितम् ॥१३॥

इस प्रकार ज्ञान का स्वरूप बतलाकर अब ज्ञेय का स्वरूप बतलाते हैं—

यह विवेचन ६ श्लोकों में है—अपने गुणरूप पूर्वकथित साधनों से जो जानने योग्य है, उसे कहता हूँ—इसके कथन का प्रयोजन बतलाते हैं—इसे जानकर अमृत=मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार कथन कर उसका स्वरूप कहते हैं, जो उत्पत्ति रहित है तथा जिसका मैं आश्रय हूँ, ऐसा ब्रह्म वह सत् नहीं है। यदि वह सत् नहीं है तो असत् है, कहते हैं वह असत् भी नहीं है। सत्-असत् के अनिश्चय से वह ब्रह्म दुर्ज्ञेय है, यह प्रतिपादित किया है ॥१३॥

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१४॥

एवं सर्वाविषयत्वे ज्ञेयत्वं बाध्यते इति ज्ञेयत्वेन स्वरूपमाह ॥ सर्वत इति ॥ सर्वतः पाणयः पादाश्च यस्य तत्। एवं विशेषणद्वयेन सर्वत्र क्रियाशक्तिः सर्वसेव्यत्वं च निरूपितम्। सर्वतः अक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य। एवं विशेषणत्रयेण सर्वज्ञानवत्त्वं सर्वमुख्यत्वं ज्ञापितम्। सर्वतः श्रुतिमत् सर्वतः श्रवणेन्द्रिययुक्तम्। अनेन भक्तादिस्तुतिश्रवणे योग्यत्वेन कृपालुत्वं प्रदर्शितम्। लोके स्वकीय इतिशेषः। तर्हि परिच्छिन्नं भविष्यतीत्याशङ्क्याह। सर्वम् आवृत्य व्याप्य सर्वेन्द्रियादियुक्तमेव तिष्ठतीति भावः ॥१४॥

इस प्रकार यदि वह सबका अविषय है, तो उसके ज्ञेयत्व में ही बाधा होगी, अतः ज्ञेयत्व स्वरूप कहते हैं। उसके हाथ-पैर सर्वत्र हैं, इस प्रकार दो विशेषणों से सर्वत्र क्रियाशक्ति और सर्वसेव्यत्व का निरूपण हुआ है। सर्वत्र उसके नेत्र और सिर तथा मुख हैं, इस प्रकार तीन विशेषणों से सर्वज्ञान वाला और सर्वमुख्य कहा गया है—वह सर्वत्र श्रवणेन्द्रिय युक्त है। इससे भक्त आदि की स्तुति श्रवण में योग्यत्व तथा कृपालुत्व कहा है। (अपनों की यह शेष अर्थ है) तब तो वह सीमित हो गया—इसका समाधान करते हुए कहा है कि वह समस्त इन्द्रियादिकों से युक्त होकर ही रहता है, यह भाव है ॥१४॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच ॥१५॥

किच ॥ सर्वेन्द्रियगुणाभासमिति ॥ सर्वेषामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां गुणेषु रूपादिषु भासमानम्। अनेन यत्र सौन्दर्यादिकं यत्किञ्चिदपि तद्भगवत्संबन्धादेवेति ज्ञापितम्। तर्हि लौकिकेन्द्रियादियुक्तं भविष्यतीत्यत आह। सर्वेन्द्रियविवर्जितं रहितमित्यर्थः। अनेनेन्द्रियाणां पूर्वोक्तानामलौकिकत्वं ज्ञापितम्। एतदेव विवेचयति। असक्तमित्यादिना। असक्तं सर्वत्राऽऽसक्तिरहितं तेन संगाभावः सूचितः। च पुनस्तादृशमेव सर्वभृत् सर्वाधारभूतं। सर्वधारणेन सगुणत्वमाशङ्क्याह। निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितम्। एवं गुणवैयर्थ्यमाशङ्क्याह। गुणभोक्तृ च गुणेषु स्थित्वा तद्भोगं करोतीत्यर्थः। चकारेण तत्पालकमपीति ज्ञापितम् ॥१५॥

वह चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों के गुण रूपादि में प्रकाशित है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जहाँ सौन्दर्यादिक है, वह भी भगवान् के सम्बन्ध से ही है। तब एक शङ्का होगी कि वह लौकिक इन्द्रियादि से युक्त है, अतः कहा है कि वह सर्व इन्द्रियों से रहित है। इससे जहाँ इन्द्रियों की चर्चा की गई है, वहाँ वे लौकिक नहीं अलौकिक समझनी चाहिये। इसका विवेचन करते हैं, वह सर्वत्र आसक्ति रहित है। इससे उसका संग राहित्य बतलाया है। वह सबका आधारभूत है। सबका धारक है तो सगुणत्व की शङ्का होगी, अतः कहा है कि वह सत्त्व-रज-तम आदि गुणों से रहित मानने से गुणों की व्यर्थता हो जायगी तो कहते हैं, गुणों में बैठकर वह उनका भोग करता है, उनका पालक भी है, यह चकार से सुस्पष्ट है ॥१५॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१६॥

एवं भोगकर्तृत्वे व्यापकत्वं बाध्यत इत्यत आह ॥ बहिरिति ॥ भूतानां चराचराणां बहिः भोक्तृत्वेन, अन्तस्तद्रूपेणात्मरूपेण वा तदेव एवं बहिरन्तःस्थत्वे सति भिन्नत्वेन व्यापकत्वहानिमाशङ्क्याह। अचरं स्थावरं, चरमेव च जङ्गमं च। एवकारेण स्थावरत्वसहितमेव जङ्गमत्वं जङ्गमत्व-

सहितमेव स्थावरत्वं, तेन विरुद्धधर्माश्रयत्वं ज्ञापितम्। एवंसति सर्वज्ञेयत्वमेव स्यात् पूर्वोक्तसाधनवत्सु को विशेष इत्यत आह। सूक्ष्मत्वादिति। तत् ब्रह्म तत्र तत्र लीलार्थरूपेण सूक्ष्मत्वात् साधनाभावे अविज्ञेयं विशेषेण ज्ञातुमशक्य-मित्यर्थः। एतदेवाह। दूरस्थं चान्तिके च तत्। बहिर्मुखाणां दूरस्थं, भक्तानां च अन्तिके निकटे स्थितमित्यर्थः। चकारद्वयेनैतदुभयस्याऽपि लीलात्मकत्वं ज्ञापितम्। यद्वा। मर्यादास्थानां दूरस्थं, पुष्टिस्थानाम् अन्तिके स्थितम्। यद्वा। पुष्टिमार्गीयाणामेव विरहदशायामतितापेन पुरस्कृतं तच्च विरहरीत्या दूरस्थमेव, अन्तिके हृदये परोक्षरीत्या। तदज्ञानेन तज्जीवनार्थं निकटे च स्थितम्। 'मया परोक्षं भजता तिरोहित' मितिरीत्येतिभावः ॥१६॥

भोगों के कर्तापन से व्यापकत्व में बाधा आये भी अतः कहा है—चर और अचर के बाहर भोक्तारूप से अन्त में उसी रूप से अथवा आत्मरूप से वही है, इस प्रकार बाहर और भीतर भिन्न-कथन से व्यापकत्व में हानि आयेगी तब कहा है—स्थावर सहित जङ्गम और जङ्गमत्व सहित स्थावरत्व, इससे विरुद्ध धर्माश्रयत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार से तो वह सर्वज्ञेय हो जायगा, तो पूर्वोक्त साधन करने वालों का क्या प्राप्त हुआ, अतः आगे कहते हैं कि वह ब्रह्म उन-उन लीलाओं में सूक्ष्म है, अतः साधन के अभाव में उसको जानना कठिन है। वह दूर भी है, निकट भी है, अर्थात् बहिर्मुखों को दूर है, भक्तों के निकट है। चकार द्वय से दोनों का लीलात्मक बतलाया है, अथवा मर्यादा में रहने वालों को दूर है, पुष्टि वालों के निकट है। अथवा पुष्टि मार्ग में ही विरह दशा में अत्यन्त ताप से पुरस्कृत होकर विरह की रीति से दूर है, परोक्षरीति से हृदय में निकट रूप से है। इसे न जानने के कारण उसे जीवन देने हेतु निकट में स्थित है। 'मयापरोक्षं' इत्यादि कथन इसमें प्रमाण है ॥१६॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१७॥

किंच। अविभक्तमिति॥ भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु स्वलीलार्थंस्वस्व-रूपात्मकत्वेन सर्वस्य प्रकटितत्वात् अभिन्नं रसार्थं द्वितीयरूपेण कृतत्वात् विभक्तमिव भिन्नमिव स्थितम्। इव पदेन स्वेच्छया तथा प्रदर्शयतीति ज्ञापितम्। किंच तत् पूर्वोक्तं ज्ञेयं भूतानां भर्तृ रक्षकं पोषकं। भर्तृपदेन रमणशीलत्वं ज्ञापितं तेन रमणार्थमेव स्थितिकाले रक्षकमित्यर्थः। वियोगा-त्मकप्रलयकाले ग्रसिष्णु ग्रसनशीलं स्वस्मिन्नवरोधकमित्यर्थः। च पुनः सृष्टि-काले लीलात्मकरसदानात्मके प्रभविष्णु नानास्वरूपैः प्रभवनशीलम् ॥१७॥

स्थावर जङ्गम जीवों में अपनी लीला के लिये स्व-स्वरूपात्मक होने से सबको प्रकट दीखने से अभिन्न रस के लिये द्वितीय रूप से करने से भिन्न की भांति स्थित है। 'इव' पद से उसकी स्वेच्छता है। और वह पूर्वोक्त ज्ञेय जीवों का रक्षक है, पोषक है। 'भर्तृपद' उसकी रमणशीलता का परिचायक है, अतः रमण में ही स्थिति काल में रक्षक है। वियोगात्मक प्रलय काल में ग्रसनशील है, अपने में रोककर रखता है, सृष्टिकाल में लीलात्मक रसदानात्मक होकर नाना स्वरूपों से उत्पन्न होने के स्वभाव वाला है ॥१७॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१८॥

किंच। ज्योतिषामिति॥ ज्योतिषां रविचन्द्रादीनामन्यप्रकाशमाना-नामपि तदेव ज्योतिः प्रकाशकमित्यर्थः॥ अत्रायं भावः॥ न तत्र सूर्यो भातीत्यादिश्रुत्या तत्रैतेषामभानमुक्तं, तथाच तत्प्रकटनवैयर्थ्यं स्यात्तदर्थं तत्प्रकाशनेन तत्र शोभादिकारकमित्यर्थः। अन्यथाऽन्यत्र सर्वप्रकाशत्वमपि न भवेत्। तर्हि मुख्यतमोरूपं सर्वप्रकाश्यत्वेन भविष्यतीत्यत आह। तमसः परमिति। तमसः मुख्यतमसोऽपि परम् उपरि उत्कृष्टं वा उच्यते श्रूयते इत्यर्थः। अतएव श्रुतिरपि तमसा गूढमग्रे प्रकेतमित्याह। ननु स्वप्रकाश्यत्वे स्वस्यैव नानास्वरूपात्मके सर्वेषां कथं न तज्ज्ञानमित्यत आह। ज्ञानमिति। ज्ञानबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्त्यात्मकं च तदेव। तेन यत्र ज्ञापनेच्छा तत्रैव तद्रूपेणा-विर्भवतीत्यर्थः। तथैव ज्ञेयं ज्ञेयरूपेणाविर्भूतमित्यर्थः। तथापि पुरुषोत्तम-गूढात्मकमेवेत्याह। ज्ञानगम्यमिति ज्ञाने ज्ञानेन पूर्वोक्तरूपेण गम्यं प्राप्यं तेनाऽक्षरात्मकत्वं ज्ञापितम्। ननु पूर्वं ज्ञानरूपत्वेन सर्वाऽगम्यत्वमुक्तं तत्कथं ज्ञानगम्यमित्याह। हृदीति सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि धिष्ठितम् अधिष्ठित-मित्यर्थः। सर्वप्रेरकत्वेन स्थितं तेन यत्र तथेच्छा तत्र ज्ञानरूपेणाविर्भवति यत्र न ज्ञापनेच्छा तत्राऽऽच्छादकत्वेन भवतीतिभावः ॥१८॥

ज्योतिषाम्—सूर्य-चन्द्र आदि का प्रकाशक भी वही है। भाव यह है कि श्रुति में लिखा है कि वहाँ सूर्य का प्रकाश भी नहीं है। वहाँ इनका अप्रकाशन होने से कार्यत्व सिद्ध होता है, इसलिये प्रकाशन से शोभादिकारक कहा गया है। अन्यथा अन्यत्र सर्व प्रकाशकत्व भी न हो तो मुख्यतम रूप सर्व प्रकाश्यत्व से होगा, अतः कहा है, तम से परे। मुख्यतम से भी ऊपर अथवा उत्कृष्ट कहा जाता है। 'तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्' यह श्रुति भी है। अपने द्वारा प्रकाश्य में अपने ही नाना स्वरूप में सबको वैसा ज्ञान क्यों नहीं होता, अतः कहा है कि ज्ञान बुद्धि वृत्ति का अभिव्यञ्जक नहीं है। अतः जहाँ प्रकाशन की इच्छा है, वहीं उसी रूप में आविर्भाव होता है। ज्ञेयरूप से आविर्भाव होना लिखा है। तथापि पुरुषोत्तम गुह्यात्मक ही है। वह ज्ञान द्वारा समझ में आता है, अतः उसका अक्षरात्मक भी स्वरूप कहा है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब परमात्मा सबसे अगम्य है, तब ज्ञान के द्वारा प्राप्त कैसे होता है। वह सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। वह सबका प्रेरक भी है, अतः जहाँ उसकी इच्छा होती है, प्रकट होता है, जहाँ प्रकट होने की इच्छा नहीं होती वहाँ वह अप्रकट रहता है ॥१८॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१९॥

उपसंहरति ॥ इतीति ॥ इति अमुनाप्रकारेण 'महाभूतानीत्यादिना' क्षेत्रम्, अमानित्वमित्यादिना, ज्ञानम्, अनादि मत्परं ब्रह्मेत्यादिना' ज्ञेयं, चकारेण सर्वमक्षरात्मकं समासतः संक्षेपेण सौकर्यबोधार्थमुक्तम्। यदर्थमुक्तं तदाह। मद्भक्त इति। एतदुक्तरूपं विज्ञाय विशेषेण मद्विभूत्यक्षरात्मकं ज्ञात्वा मद्भक्तो मद्भजनशीलः सन् मद्भावाय भावात्मकस्वरूपलाभाय उपपद्यते योग्यः समर्थो वा भवतीत्यर्थः ॥१९॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं कि उक्त प्रकार से इति अर्थात् महाभूत आदि तथा अमानित्वं इत्यादि से क्षेत्र, 'अनादि मत्परं ब्रह्म से ज्ञेय, चकार से अक्षरात्मक का निरूपण किया गया है, ये सब इसलिये कहे हैं कि उक्तरूप को जानकर मेरे विभूतिपरक अक्षरात्मक को जानकर मेरा भजन करने वाला बनकर मेरे भावात्मक स्वरूप लाभ के लिये योग्य बनोगे ॥१९॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥२०॥

एवं पूर्वप्रतिज्ञातं तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्चेति निरूपितम्। स्वांशत्वेन तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंज्ञा कथमित्याशङ्क्य 'यद्धिकारीत्यादिना' पूर्वमेव प्रतिज्ञातमुभयोः स्वरूपं निरूपयति। प्रकृतिमित्याद्यैः पञ्चभिः पद्यैः। प्रकृतिं सर्वजननसमर्थां व्यापकत्वादिधर्मयुतां भगवच्छक्तित्वादनादिं, पुरुषं च तद्रसभोक्तारं भोक्त्रंशरूपं भगवदंशत्वादनादिम्। एवमुभावपि अनादी विद्धि जानीहि। अत्रायं भावः। पूर्वं ब्रह्मप्रकृतिपुरुषरूपेण विचित्ररसभोगार्थमाविर्भूय ततः सर्वं कृतवान्' स्वांशानां जीवानां ज्ञापनार्थं तत्र मोहकस्वभावमायासंबन्धादन्यथा ज्ञानेन संबन्धो भवति तदभावायाऽनादिस्वभगवच्छक्तिभगवदंशादिज्ञानेन मोहो न भवेदित्यर्थः। एवं तावनादी ज्ञात्वा विकारान् देहेन्द्रियादीन् सेवोपयिकान् गुणान् सुखदुःखमोहात्मकान् प्रकृतिसंभवानेव विद्धि। अत्रायं भावः। कयाचिदवस्थयाऽवस्थितस्वस्वरूपेण स्वरसानुभवार्थं देहादीन् सत्ताऽऽत्मकान् शक्तितः प्रकटीकरोति। तथैव संगमसुखानुभवविरहदुःखानन्दानुभवाऽऽसक्त्यात्मकानन्दमोहात्मकान् गुणानपि प्रकटयति। अतस्तथा विद्धि। एवं ज्ञानप्रयोजनं चाग्रे स्फुटीभविष्यति ॥२०॥

इस प्रकार क्षेत्र और उसका परिमाण स्वरूप बतलाकर अपने अंश से वहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संज्ञा कैसे है, "इसका समाधान" 'यद्धिकारीत्यादि' से पूर्व प्रतिज्ञात दोनों का स्वरूप ५ पद्यों से कहा जाता है। सबको उत्पन्न करने में समर्थ तथा सर्वव्यापक भगवान् की शक्तिरूपा 'प्रकृति' भी आदि रहित है तथा उसके रस का स्वाद लेने वाला भोक्ता अंशरूप भगवान् का अंश होने से पुरुष भी आदि रहित है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। भाव यह है कि ब्रह्म-प्रकृति पुरुष दोनों रूप में विचित्र रसभोग के लिये प्रकट होता है, और तब सब कार्य करता है। जीव उसी के अंश हैं उन्हें बोध कराने के लिये मोहक स्वभाव माया सम्बन्ध से भिन्न ज्ञान से सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्ध के अभाव के लिये अनादि अपनी शक्ति, अपने अंशादि ज्ञान से मोह न हो यह अर्थ है। इस प्रकार प्रकृति-पुरुष दोनों को अनादि समझकर देह-इन्द्रिय आदि विकारों को जो सेवा के उपयोगी हैं, तथा सुख-दुःख मोह स्वरूप वाले गुणों को प्रकृति से उत्पन्न ही समझना चाहिये। भाव यह है किसी अवस्था से अपने स्वरूप से अपना

ही रस आस्वादन करने के लिये देहादि सत्ता को शक्ति द्वारा वह प्रकट करता है। उसी प्रकार संगम से मिलने वाले सुख के अनुभव, विरह से प्राप्त होने वाले दुःख के अनुभव, आनन्द अनुभव आसक्ति स्वरूप आनन्द मोहात्मक गुणों को भी प्रकट करता है। अतः उन्हें जानो। इस प्रकार ज्ञान का प्रयोजन आगे कहेंगे ॥२०॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२१॥

एतदेव विशदयति कार्येति ॥ कार्यस्य ॥ स्वरसानुभवात्मकस्य कारणानि देहगुणादीनि तेषां कर्तृत्वे प्रकटकरणे हेतुः प्रकृतिः पूर्वोक्तरूपा शक्तिरुच्यते। तथैव पुरुषः सुखदुःखानां संगमविरहात्मकादीनां भोक्तृत्वे तद्रसज्ञत्वे हेतुः कारणम् उच्यते ॥२१॥

पूर्व कथन का विशद वर्णन किया जाता है—स्वरसानुभवात्मक कार्य का, देह-गुण आदिकारणों के कर्तृत्व प्रकट करने में हेतु प्रकृति है, अर्थात् पूर्वोक्तरूपाशक्ति है। उसी प्रकार सुख-दुःखों का संगम-विरहात्मकों का भोक्ता रसज्ञ पुरुष हेतु कहा जाता है ॥२१॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२२॥

ततः किमत आह। पुरुष इति। पुरुषः पुरुषरूपेण प्रकटो भगवान्, प्रकृतिस्थः स्वरसानुभवस्थानस्थितः सन् प्रकृतिजान् पूर्वोक्तान् गुणान् भुङ्क्ते इतरसंभोगं करोतीत्यर्थः। ननु पुरुषरूपस्य सदसद्योनिदेवतिर्यगादिरूपजन्मसु गुणरसभोगेच्छा कारणं हेतुरित्यर्थः ॥२२॥

इससे क्या होता है, कहते हैं—पुरुषरूप से प्रकट होने वाले भगवान् अपने रसानुभव स्थान में अर्थात् प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों को भोगते हैं। मिश्र संभोग करते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पुरुष रूप की अच्छी-बुरी देह-तिर्यग् आदिरूप योनियों में गुणों के रसभोग की इच्छा कारण है ॥२२॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२३॥

एवं रसभोगेच्छा कारणत्वेनोक्त्वा तत्र देहादिषु प्रविष्टस्य स्वाल्पांशस्याविद्यात्मकजीवस्य भोगादिदर्शने पुरुषस्य कथं भोगः ? कथं तेन जीवस्य संसार ? इत्याशङ्कायां समाधत्ते ॥ उपद्रष्टेति ॥ परः पुरुषः पुरुषोत्तमः अस्मिन्देहे उपद्रष्टा उप=समीपेद्रष्टा साक्षी, तथा अनुमन्ता अनुमोदिता, भर्त्ता धारकः, भोक्ता रक्षकः, महेश्वरः महांश्चासावीश्वरश्च सः। तथैव परमात्मा। चकारेण प्राणजीवादिरप्युक्त इत्यर्थः। अयं भावः। देहादिकं सर्वं भगवति निवेद्य तद्दत्तप्रसादत्वेन सेवार्थोपयोगिभोगकर्तुः साक्षी=मुख्यसेवायां तदुपयोगकारयिता। एवमेव कृतसमर्पणमोदे अनु=पश्चान्मोदिता। एवमेव भर्त्ता पतित्वेन धारकपोषक इत्यर्थः। तथैव भोक्तृत्वेन स्वीयत्वज्ञानेन रक्षकः। तथैव महेश्वरः कर्तृणां ब्रह्मादीनामपि प्रभुः तेन तादृग्वस्तुकर्तेत्यर्थः। तथैव परमात्मा तादृग्धर्मवतो भिन्नरूप इत्यर्थः ॥२३॥

इस प्रकार रसभोग की इच्छा को कारणत्व से बतलाकर देहादि में प्रविष्ट अपने अल्प अंश अविद्यात्मक जीव का भोगादि दर्शन में पुरुष का भोग किस प्रकार है ? उससे जीव को संसार कैसे होता है ? इसका समाधान करते हैं—परः पुरुषः=अर्थात् पुरुषोत्तम इस देह में साक्षी है, अनुमोदक है, धारक है, रक्षक है, महान् ईश्वर है, परमात्मा है। चकार से प्राण-जीवादि भी समझना चाहिये। भाव यह है कि देहादि सब कुछ भगवान् को समर्पण करके उसके द्वारा दिये गये प्रसाद में सेवा के उपयुक्त भोगकर्त्ता का साक्षी है—मुख्य सेवा में उसके उपयोग का करने वाला है। इस प्रकार समर्पण के पश्चात् प्रसन्न होने वाला है और पतित्वेन धारक पोषक है। भोक्तृत्व से अपनेपन के ज्ञान का रक्षक है। महेश्वर का तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्मादि महान् देवों का भी प्रभु है। वैसी वस्तुओं को व्यक्तियों को बनाने में समर्थ है। परमात्मा से तात्पर्य उसका भिन्नरूप है ॥२३॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२४॥

एवमनूद्यैवंविदः संसाराऽभावमाह ॥ य एवमिति ॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण यः पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह भगवद्रूपं वेत्ति जानाति ज्ञात्वा तथा सर्वथा वर्तमानोऽपि तथाऽऽचरणशीलो यो भवति स भूयोनाऽभिजायते संसारे नोत्पन्नो भवति । किंतु मुक्त एव भवतीत्यर्थः ॥२४॥

इस प्रकार के ज्ञानी को संसार नहीं होता, इसे स्पष्ट कहते हैं—

जो ज्ञानी पुरुष-प्रकृति और गुणों के साथ भगवान् के रूप को जानता है, और जो उपदेश का यथायोग्य आचरण करता है, वह पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता। वह मुक्त हो जाता है ॥२४॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२५॥
अन्येत्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२६॥

नन्वेवं ज्ञानेनैव मुक्तिश्चेत्तदाऽन्यसाधनानामप्रयोजकत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽन्यसाधनस्वरूपमाह ॥ ध्यानेनेति ॥ द्वयेन । केचित् ज्ञानः ध्यानेन परिकल्पनेन आत्महृदये आत्मना मनसा आत्मानं आत्मरूपं भगवन्तं पश्यन्ति । अन्ये सांख्येन नित्याऽनित्यवस्तुविवेकात्मकेन योगेन तथा पश्यन्ति । अपरे कर्मयोगेन कर्मसु तदात्मकप्राकट्यरूपयोगेन पश्यन्ति तद्रूपम् । अन्ये तु मूर्खाः अजानन्तः अन्येभ्यो गुरुभ्यः श्रुत्वा विनैवानुभवम् एवं पूर्वोक्तप्रकारैरुपासते उपासनां कुर्वन्ति तेऽपि च सर्वे मृत्युम् अतितरन्त्येव मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । कथमित्यत आह । श्रुतिपरायणाः । श्रुत्युक्तप्रकारपरत्वात् श्रद्धया करणादित्यर्थः । अयमर्थः । स्ववाक्यसत्यत्वाय तानपि तारयामि निर्बन्धेन, न तु स्नेहेन । इदमेवैवकाराऽपिशब्दाभ्यां व्यञ्जितम् ॥२५-२६॥

यदि इस प्रकार के ज्ञान से ही मुक्ति हो तो अन्य साधनों का प्रयोजन ही नहीं रहेगा। अतः अन्य साधन स्वरूप कहते हैं—(दो श्लोकों से) कुछ ज्ञानीजन ध्यान के योग से अपने हृदय में मन से आत्मरूप भगवान् का दर्शन करते हैं।

कुछ ज्ञानी नित्य और अनित्य वस्तुओं के विवेचक सांख्य शास्त्र से देखते हैं कुछ कर्मयोग से कर्मों में तदात्मक प्राकट्यरूप योग से उसके रूप को देखते हैं, अन्य मूर्खजन न जानकर अन्य गुरुजनों से सुनकर बिना अनुभव के ही पूर्वोक्त प्रकार से उपासना करते हैं वे भी सब मृत्यु को तो तैरकर जाते ही हैं। अर्थात् मुक्त वे भी हो जाते हैं। कारण यह है कि वे वेद में श्रद्धा करते हैं। अर्थ यह है कि अपने वाक्य की सत्यता के लिये उन्हें भी तार देता हूं परन्तु यह कार्य बन्धरूप से करता हूं स्नेह से नहीं। यह बात 'एव' तथा अपि शब्दों द्वारा व्यञ्जित है ॥२५-२६॥

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२७॥

एतेषु पूर्वोक्तप्रकारेषु किमुत्तमम् अथच कथं ज्ञेयमित्यत आह । यावदिति । यावद्वस्तुमात्रं स्थावरजङ्गमं तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः पूर्वोक्तस्वरूपयोगात् क्रीडार्थंकमत्संयोगात् सत्त्वं सत्त्वात्मकं विद्धि जानीहि । भरतर्षभेति-संबोधनं तदर्थज्ञानयोग्यत्वाय ॥२७॥

इन पूर्वोक्त प्रकारों में उत्तम क्या है ? तथा ज्ञेय क्या है इसका उत्तर देते हैं—जितने भी पदार्थ स्थावर-जङ्गम आदि हैं वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के पूर्वोक्त स्वरूप योग से क्रीड़ा के लिये मेरे संयोग से सत्त्वात्मक समझो। 'भरतर्षभ', यह सम्बोधन इसके अर्थ के ज्ञान योग्यता के लिये है ॥२७॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२८॥

एतदेव फलरूपत्वेन विशदयति सममिति । सर्वेषु प्रपञ्चान्तःपातिस्थावरजङ्गमात्मकेषु भूतेषु लीलया अनेकविधरसभोगार्थं तिष्ठन्तं रसानुभवाय नीचोच्चादिधर्मरहितं समं तेषु विनश्यत्सु च अविनश्यन्तं तादृग्लीलावबोधरहितत्वाद्विनाशं प्राप्तेषु अन्यथाभावेन क्रोधादिराहित्येन तथैव लीलानुभवं कुर्वन्तं यः पश्यति स परमेश्वरं पश्यति । अत एवंदर्शनाऽभावे साऽपराधो भवत्येव ॥२८॥

इसी पूर्वोक्त तथ्य को विस्तृत रूप में कहते हैं—समस्त प्रपञ्चों के मध्यवर्ती स्थावर जङ्गमात्मक प्राणियों में लीला द्वारा अनेक विध रस भोग के लिये स्थित रसानुभव के लिये नीच-उच्च धर्म से रहित सम तथा उनके नष्ट न होनेवाले उस प्रकार की लीला को न जानकर विनाश को प्राप्त अन्यथा भाव से क्रोधादि से रहित उसी प्रकार लीला का अनुभव करते जो देखता है वह परमेश्वर को देखता है। न देखने पर अपराध लगता है ॥२८॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२९॥

पश्यन् मुक्तो भवतीत्याह। सममिति। सर्वत्र प्रापञ्चिकपदार्थमात्रे समवस्थितं सम्यक्प्रकारेण तथाभूतलीलार्थमवस्थितम् ईश्वरं सर्वसामर्थ्ययुक्तं समं पश्यन् आत्मना स्वलीलात्मरूपेण आत्मस्वरूपमविकृतमात्मानं हि निश्चयेन न हिनस्ति अन्यथा न प्राप्नोति, यथार्थरूपेण ज्ञात्वा प्रपद्यते। ततः पराम् उत्कृष्टां वैकुण्ठाख्यां गतिं याति। हीति युक्तत्वम् अन्यथाप्रवृत्तेर्निषिद्धत्वात्। अतएव 'यो ऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणेति' संपद्यते ॥२९॥

देखकर मुक्त होता है अतः कहा है—सर्वत्र प्रपञ्च सम्बन्धी पदार्थों में भली-भाँति लीला को स्थित, सर्वसामर्थ्ययुक्त ईश्वर को समभाव से देखता हुआ अपनी लीलात्मरूप से आत्म-स्वरूप को विकाररहित आत्मा को अन्यथा नहीं करता। यथार्थ-रूप से जानकर प्रवृत्त होता है और उत्कृष्ट वैकुण्ठ नाम की गति को प्राप्त करता है। अन्यथा प्रवृत्ति निषिद्ध है। इसीलिये यह कहा गया है कि जो अपनी आत्मा को अन्यथा समझता है और उस चोर ने आत्मा का अपमान करनेवाले ने क्या नहीं किया ॥२९॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥३०॥

ननु सर्वरूपेण यदि सर्वत्र स एवास्ति तदा कथं न सर्वे तथा पश्यन्तीत्याशङ्क्याह। प्रकृत्यैवेति। प्रकृत्या लीलोपयोगिन्यैव क्रियमाणानि कर्माणि यः पश्यति चकारेण कार्यमाणानि कर्माणि, तथा आत्मानं जीवम् अकर्तारं तदिच्छाभावे सर्वकरणाऽशक्तं यः पश्यति स पश्यति परमेश्वरमितिशेषः। अथवा स एव पश्यति अन्येऽन्यथा एवेति भावः ॥३०॥

यदि वह सर्वत्र ही है तो सबको वह दिखलाई क्यों नहीं देता। इसका उत्तर देते हैं—प्रकृति द्वारा लीला के उपयुक्त किये गये कर्मों को जो देखता है जो कराये गये हैं उन्हें भी देखता है, जीव को अकर्ता के रूप में उसकी इच्छा के अभाव में सब कुछ करने में असमर्थ जो देखता है वह परमेश्वर को देखता है। अथवा वही व्यक्ति देखता है, अन्य तो अन्यथा देखते हैं अर्थात् सत्यरूप में नहीं देखते ॥३०॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३१॥

एवमेव सर्वेषां लये सूक्ष्मत्वमुत्पत्तौ विस्तारं च यदा ब्रह्मणः सकाशादेव तद्रूपं पश्यति तदा ब्रह्मत्वमाप्नोतीत्याह। यदेति। यदा भूतानां स्थावरजङ्गमानां पृथग्भावं ब्रह्मणो भेदं विविधानेकरूपात्मकम् एकस्थं संहारेच्छात्मकरमणात्मकब्रह्मस्वरूपस्थं प्रलये अनु पश्यति च पुनः। तत एव प्रपञ्चरमणेच्छुब्रह्मण एव सृष्टिसमये विस्तारम् अनुपश्यति, तदा ब्रह्म संपद्यते ब्रह्मत्वमाप्नोतीत्यर्थः ॥३१॥

इस प्रकार सब के नाश में सूक्ष्म, उत्पत्ति में विस्ताररूप ब्रह्म से ही होता है, ऐसा जानकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। इसे ही कहते हैं—जब स्थावर—जङ्गम भूतों का पृथक् भाव नाम ब्रह्म से भेद देखता है अनेक विचित्र रूपों को देखता है, एकत्र संहार इच्छात्मक रमणात्मक ब्रह्मस्वरूप में देखता है, तब प्रपञ्च रमणेच्छावान् ब्रह्म के सृष्टि के समय विस्तार को देखता है तब ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है ॥३१॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३२॥

ननु यथा ब्रह्मांशस्यापि जीवस्य देहसंबन्धात्कर्मलेपस्तेनैवाज्ञानं तथाऽत्र प्रेरकात्मसंबंधात्तस्यैव जीवसंबन्धाल्लेपे सति कथं समदर्शनमित्या-

शङ्कमाह । अनादित्वादिति । यस्यैवोत्पत्तिस्तस्यैवान्यसंबन्धेन नाशः । सच[१] अनादिर्नत्वाविद्यकजीवभाववदुत्पत्तिरत एव तत्सम्बन्धाऽभावार्थं साक्षित्वं पूर्वं निरूपितम् । तस्मात् गुणसंबन्धिन एव तन्नाशे नाशः सच निर्गुणस्तस्मादयं परमात्मा अव्ययः परसंबन्धादिनाशशून्यः । अतः शरीरस्थोऽपि कर्माणि न करोति अत एव न लिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार ब्रह्म का अंश जीव है और वह देह के सम्बन्ध से कर्म से लिप्त है उसके अज्ञान का मूल भी देह सम्बन्ध है और नाश भी उसी से है । प्रेरक आत्म सम्बन्ध से उसका जीव सम्बन्ध का लेप न होने से समदर्शन कैसे होगा, अतः कहा है कि जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश भी अन्य सम्बन्ध से है वह अनादि है, अविद्याकृत नहीं है । जैसे अविद्या से जीव भाव की उत्पत्ति होती है वैसे नहीं अतः उसके सम्बन्ध के अभाव के लिये साक्षित्व पहले कहा जा चुका है । अतः गुण सम्बन्धी के नाश होने पर ही नाश होता है । वह निर्गुण है अतः यह परमात्मा अव्यय है पर सम्बन्धादि नाशरहित है । अतः शरीर में रहते हुए भी वह कर्म नहीं करता, अतः वह कर्मों में लिप्त नहीं होता ॥३२॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥३३॥

एतदर्थं दृष्टान्तमाह । यथेति । यथा सर्वगतं सर्वत्र जडजीवान्तर्गतमाकाशं सौक्ष्म्यात् स्वरूपाभावात् संगरहितं तेन सह नोपलिप्यते तथा सर्वत्र उच्चनीचोऽपि देहावस्थितोऽप्यात्मा न लिप्यते ॥३३॥

इसीलिये दृष्टान्त कहा है । जिस प्रकार जड़ और जीव के भीतर भी आकाश है किन्तु सूक्ष्म होने से स्वरूप शून्य होने से संग रहित है, वह उनमें लिप्त नहीं होता इसी प्रकार उच्च-नीच देहों में अवस्थित होने पर भी आत्मा लिप्त नहीं होता ॥३३॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३४॥

---

[१] आत्मा च ।

नन्वलेपे देहादिगुणप्रकाशकत्वं कथमित्याशङ्कयाह । यथेति । यथैको रविर्मदंशात्मकत्वात् कृत्स्नं संपूर्णमिमं लोकं प्रकाशयति, तथा मदंशकत्वादेव क्षेत्री क्षेत्रं कृत्स्नं संपूर्णं प्रकाशयति । रवेर्लोचनात्मकत्वात्तद्दृष्टान्ते मत्कृपादृष्ट्या क्रीडोपयोग्यत्वायाऽऽत्मापि क्षेत्रं प्रकाशयतीतिज्ञापितम् । भारतेतिसम्बोधनेन सैन्यमध्ये स्थितो मदंशत्वात्तद्दोषैस्त्वं यथा न लिप्यस इतिज्ञापितम् ॥३४॥

लिप्त न होने पर देह के गुणों का प्रकाशक वह कैसे होता है, इसके उत्तर में कहते हैं—जिस प्रकार एक सूर्य मेरा अंश है और वह सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मेरे अंश के कारण क्षेत्री (जीव) क्षेत्र का प्रकाश करता है । 'रवि' लोचन की भाँति माना गया है, इस दृष्टान्त का भाव यह भी है कि मेरी कृपा दृष्टि से क्रीड़ा की उपयोगिता के लिये आत्मा भी क्षेत्र का प्रकाशक होता है । भारत सम्बोधन से यह ज्ञापित किया है कि सेना के मध्य में अवस्थित होने से मेरा अंश तू उनसे लिप्त न हो ॥३४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३५॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषयोगो नाम
त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

उपसंहरति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं भेदं । लौकिकसृष्टितः, ज्ञानचक्षुषा आलोचनदृष्ट्या ये विदुः । च पुनः । भूतानां संबन्धिनी या प्रकृतिः संसारोपयोगिनी ततो मोक्षसाधनं ध्यानाद्यात्मकं ये विदुस्ते परं मोक्षं यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥३५॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवं रूपमुक्त्वेश्वरः स्वयम् ।
मोहं निवारयामास फाल्गुनस्य नमामि तम् ॥१॥
इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां टीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को ज्ञान चक्षु से अर्थात् आलोचन दृष्टि से जो जानते हैं तथा सम्बन्धिनी संसारोपयोगिनी प्रकृति को तथा मोक्ष के साधन ध्यानादि को जो जानते हैं, वे परम मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥३५॥

कारिकार्थ :—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूप को समझाकर अर्जुन के मोह को दूर करनेवाले ईश्वर कृष्ण को नमस्कार करता हूँ।

॥ इति अमृत तरङ्गिण्यां टीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥

❀ श्रीकृष्णाय नमः ❀

अध्याय १४

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

कृष्णः स्वगुणसंबन्धात्प्रपञ्चस्य विचित्रताम् ।
बोधनार्थं पाण्डवाय वर्णयामास विस्तरात् ॥१॥

अथ स्वक्रीडार्थं विरचितसत्त्वादिगुणसंगजप्रपञ्चवैचित्र्यस्वरूपेण फलात्मकं निरूप्य वर्णयति । तत्र श्लोकद्वयेन फलरूपस्वरूपमाह । परमिति । परं भगवत्संबन्धिफलात्मकं ज्ञानं ज्ञेयसाधनं तेन भूयः पूर्वमुक्तं साधारण्येन, पुनः प्रकर्षेण ससाधनं वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः । भूयः प्रकर्षकथने विशेषणेन विशेषयति । कीदृशं तत् ? ज्ञानानां पूर्वोक्तज्ञेयसाधनानां मध्ये उत्तमं मुख्यमित्यर्थः । एवं कथनं प्रतिज्ञाय फलरूपत्वमाह । यदिति । यत् ज्ञानं ज्ञात्वा मुनयो मननशीलास्तदभ्यसनपराः सर्वे परां सिद्धिमनुभवात्मिकाम् इतः लौकिकदेहात् गताः प्राप्ताः । सर्वे इतिपदेन येषां सिद्धिर्जाता तेषामनेकत्वं ज्ञापितम् । ज्ञानानामुत्तममनेन विशेषणेन ज्ञानेष्वेवोत्तमत्वं न तु भक्तित इतिव्यञ्जितम् ॥१॥

कारिकार्थ :—कृष्ण ने अपने गुण सम्बन्ध से प्रपञ्च की विचित्रता को अर्जुन के समक्ष विस्तार से कहा ॥१॥

अपनी क्रीड़ा के लिये विरचित सत्व-रज-तम गुणों के संग से उत्पन्न होनेवाले प्रपञ्च की विचित्रता से फलात्मक वर्णन करते हैं—दो श्लोकों से फल स्वरूप बतलाते हैं—भगवत्सम्बन्धि फलात्मक ज्ञान को, ज्ञेय के साधन को जो कहा जा चुका है, अब उसे विशेषता के साथ कहता हूँ। यह पूर्वोक्त ज्ञेय साधनों में श्रेष्ठ है। इस प्रकार